■ विद्या - भारती - ३
आचार्य विद्यासागर

■ संयोजन
योगेश जैन (कागजी)
२४०२, तोताराम बाजार,
त्रीनगर, दिल्ली- ३५
फोन : ०११-७१९२६२६, ७१९२७२७

■ प्राप्ति स्थान
श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति बरेला
जैन ट्रेडर्स, जैन मंदिर के सामने
बरेला, जिला- जबलपुर (म.प्र.)
फोन : ०७६१- ८९४८७. ८९४८३, ८९४३१

ब्र. जिनेश शास्त्री
संचालक - श्री वर्णी दि. जैन गुरुकुल
पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर, (म.प्र.)
फोन : ०७६१- ४२२९९१

डॉ. अनुज गोयल (जैन)
वीर नर्सिंग होम देवबंद,
जिला सहारनपुर (उ.प्र.)
फोन : ०१३३६- २२५२०, २२५२९

बाबूलाल सुमतकुमार जैन
मेन बाजार, अशोक नगर, जिला गुना (म.प्र.)
फोन : ०७५४३- २२६१५. २२६२०

चांदनी इलेक्ट्रिकल्स
शिन्दे की छावनी चौराहा
लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.)
फोन : ०७५१- ३३५०७१ पी.पी.

कहाँ/ क्या ?

(१) दान की महत्ता - १
(२) चलती चक्की देखकर - १३
(३) गहन गहराइयाँ - २६
(४) उपकार या परोपकार - ३८
(५) प्रवचनामृत - ५३
(सोलह कारण भावनाओं का विवेचन)

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की जीवन झाँकी

पूर्वनाम	: विद्याधर
जन्म	: १० अक्टूबर १९४६ (शरद पूर्णिमा)
जन्मस्थान	: सदलगा जिला बेलगाँव (कर्नाटक)
पिता	: श्रीमलप्पा जी (समाधिस्थ १०८ मुनि श्री मल्लिसागर जी महाराज)
माता	: श्रीमती श्रीमती जी (समाधिस्थ आर्यिका समयमति जी)
ब्रह्मचर्यव्रत	: १९६७ में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से
मुनिदीक्षा	: 30 जून १९६८ आचार्य श्री ज्ञानसागर जी से (अजमेर में)
आचार्य पद	: २२ नवम्बर १९७२
शिक्षा	: हाईस्कूल (कन्नड़ माध्यम से)
कृतित्व	: नर्मदा का नरम कंकड़, डूबो मत/लगाओ डुबकी, तोता क्यों रोता (काव्य संग्रह), चेतना के गहराव में (सचित्र) प्रतिनिधि (काव्य संकलन), मूकमाटी (महाकाव्य), छः संस्कृत शतक, (पाँच प्रकाशित और एक अप्रकाशित), सात हिन्दी शतकों के अतिरिक्त अनेक जैन ग्रंथों का पद्यानुवाद तथा हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड़, बंगला आदि में स्फुट रचनाएँ भी।
संयमी सृजन	: बाल ब्रह्मचारी ३७ मुनि, बाल ब्रह्मचारिणी ११२ आर्यिकायें, बाल बह्मचारी १० ऐलक. बाल ब्रह्मचारी ७ क्षुल्लक, १५० बाल ब्रह्मचारिणी बहनें, ५० बाल ब्रह्मचारी भाई, समाधि प्राप्त लगभग २५ (मुनिं, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका)

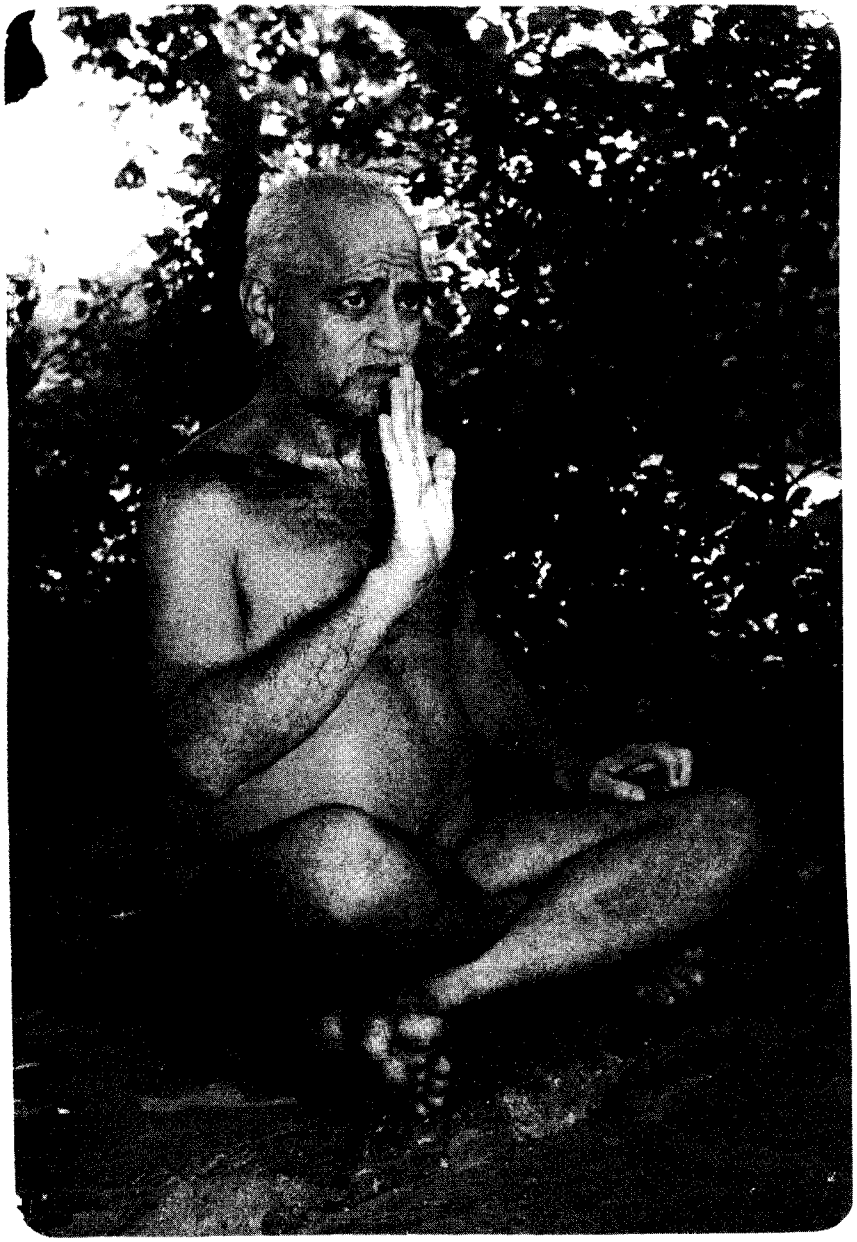

जैनाचार्य 108 श्री विद्यासागर जी

दान की महत्ता

विश्वविज्ञं विधिं वेदं, वीरं विरागवैभवम् ।
संगमुक्तं यजे बुद्धं, केशव शंभवं शिवम् ।।

बन्धुओ ! जैसी भावना की थी, आज उससे भी बढ़कर के फल मिल गया है । ऐसी स्थिति में किसे अपार आनन्द की अनुभूति नहीं होगी ? नियम से होगी। जब कोई एक छात्र ३६५ दिन अध्ययन करता है और अन्तिम चार-पाँच दिनों में उत्तीर्ण हो जाता है, उस समय उसे खाने-पीने की चिन्ता नहीं रहती, किन्तु अपनी मित्र मण्डली को खूब मिठाई बाँटने में लग जाता है । इसी में उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि की बात है। जब कोई धार्मिक अनुष्ठान करता है तो उसके दिल में (हृदय में) आनन्द की ऐसी बाढ़ आती है ऐसे महान विषम पंचमकाल में भी इस प्रकार का महान सत्युग योग्य कार्य हो जाता है जिसका सहज ही आनन्द अनुभव हो जाता है।

मैं आज आपके सामने यह बात कहना चाह रहा हूँ, जिसकी प्रायः करके जैनियों के यहाँ कमी रह गई क्योंकि हम यदि पूरी की पूरी "शाबासी" दे दें तो आप लोगों की गति के रुकने की पूर्ण सम्भावना हो सकती है, लेकिन यह बात हो ही नहीं सकती । इसीलिए जैनियों को यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हम जैनियों की सीमा तक ही धर्म का प्रचार-प्रसार करें। आज मैं लगभग बीस साल से दक्षिण से उत्तर की ओर आया हूँ । दक्षिण में प्रायः करके जो धार्मिक आयोजन होते हैं, उनमें निमन्त्रित जनता सभी आती है । उसमें इसका भी पता नहीं चलता कि कौन जैन हैं, कौन अजैन ।

आज यहाँ इस गजरथ महोत्सव में भी मात्र जैन ही नहीं आये हैं - सभी आये हैं। इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने यह बात कही है कि जब कोई भी धार्मिक आयोजन सम्पन्न होता है तो यह ध्यान रखना कि सर्वप्रथम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, सब की नियुक्ति होना अनिवार्य है । हम जड़ रूप काल की तो प्रशंसा कर लेते हैं, जैसे अभी पण्डित जी ने कहा कि - "क्रमबद्धपर्याय काल के अनुसार हो जाए" इत्यादि । हम चेतन की प्रशंसा नहीं सुनना चाहते हैं । जो चेतनजीव हैं, जिसके द्वारा हमें संयोग प्राप्त होता है, उस संयोग को कभी विस्मृत

नहीं किया जा सकता ।

आचार्यों ने अपनी मांगलिक लेखनी के माध्यम से शास्त्रों की रचना करके लिखा है कि एक आचार्य परमेष्ठी अपने जीवन काल में तपस्या के माध्यम से, शिक्षा-दीक्षा के माध्यम से धर्म की जो प्रभावना करते हैं, उसका छठवां भाग उस क्षेत्र के नेता (राजा) को प्राप्त हो जाता है । सुना आप लोगों ने । मैं यह कह रहा हूँ कि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करता है, धर्म कार्य करता है तो उस क्षेत्र के नेता को छठा भाग चला जाता है उन लोगों का सहयोग यदि नहीं मिलेगा, तो आज इस धर्म-निरपेक्ष देश में जो धार्मिक बातें मंच लगा करके कर रहे हैं, वह सब नहीं कर सकेंगे क्योंकि देश के सामने विदेश का आक्रमण है, विदेशी आक्रमण के लिए उन्हें क्या-क्या करना पड़ रहा है मालूम है आपको ? नहीं ! जो व्यक्ति राजकीय सत्ता का अतिक्रमण करके कोई कार्य करता है तो वह अपनी तरफ से धार्मिक कार्यों में बाधा उपस्थित करता है । शास्त्रों में आचार्यों के ऐसे कई उल्लेख हैं । इसलिए हमें यह सोचना चाहिए कि अहिंसा ही विश्व धर्म है ।

पुराण ग्रन्थों में, शास्त्रों में उल्लेख किया गया है कि जो धर्म से स्खलित हैं, पथ से दूर हैं, उन्हें धर्ममार्ग पर लाने का प्रयास करना चाहिए । बीस साल से मैं देख रहा हूँ कि सम्यग्दृष्टि को ही उपदेश देना चाहा जा रहा है लेकिन सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती । जहाँ पर अन्धकार हो, वहाँ पर प्रकाश की आवश्यकता होती है । प्रकाश में यदि आप लाइट जलाते हैं तो देश को - धर्म को खतरा है । सभी को खतरा है । मतलब यह हुआ कि जहाँ पर जिसकी उपयोगिता है वहाँ पर उसको करना चाहिए । दूसरी बात, धर्म प्रभावना की है, तो जो पतित से पतित हैं, आचार-विचारों में उन्हें जाकर के गले लगाना चाहिए । आज कल तो ५-६ व्यक्ति बैठ जाते हैं । एक मीटिंग कर लेते हैं और कहते हैं कि हम अखिल भारतीय दिगम्बर समाज की कमेटी वाले हैं । ऐसी कमेटियाँ समाज में बहुत सारी हैं, किन्तु इन पार्टियों से कोई भी मतलब सिद्ध होने वाला नहीं है । जो धर्म करता है उसे सोचना चाहिए कि जो अधर्मात्मा है, जो मानव जन्म को प्राप्त करके भी भीतरी चीज को पहचान नहीं पा रहा है, उसके पास जा करके, उसकी कमियों को देख करके, उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करके उसे आकृष्ट किया जाना चाहिए।

दान के बिना अहिंसाधर्म की रक्षा आज तक हुई है और न आगे होगी । यदि पैसे वाला, पैसे वाले को दान दे, तो कुछ नहीं होगा । जैनाचार्यों का कहना है कि जो सेठ हैं, साहूकार हैं उन्हें गरीबों के पास जाकर के अपनी सम्पदा का उपयोग-प्रयोग करना चाहिए । भूदान, आवासदान, शैक्षणिक दान आदि-आदि जो अनेक प्रकार के दानों के विधान किये गये हैं। वे आज जैनियों के यहाँ से प्रायःकर निकल चुके हैं। चार दानों में, अभयदान भी हमारे यहाँ माना गया है, लेकिन आज तो जो दान के नाम से केवल अन्नदान या शास्त्रदान को ही

समझते हैं, उन जैनी भाइयों से मेरा कहना है कि वे अभी दान की नामावली भी नहीं जानते हैं।

दान कितने होते हैं - मालूम है आपको ? सर्वप्रथम कहेंगे शास्त्रदान । शास्त्रदान नाम का कोई दान नहीं है । उपकरण दान कहा गया है । शास्त्र भी एक प्रकार का उपकरण है । आज एक सज्जन ने अपने वित्त का उपयोग करके एक चैत्यालय का निर्माण किया । जिनबिम्ब का निर्माण कराया । हजारों - लाखों व्यक्तियों को जो दर्शन दिलाने में निमित्त हुआ, वह भी उपकरण दान है। कल या परसों हमने एक बात कही थी, कि जो व्यक्ति अपने दर्शन - धर्म विचारों से दूसरों को आकृष्ट करना चाहता है तो उसका कर्त्तव्य है कि, उसकी कमियाँ क्या हैं ? यह जाने । यदि बच्चा रोता है तो उसे खिलाने की आवश्यकता है या पिलाने की या खेल खिलाने की आवश्यकता है, यह जानना जरूरी है। ऐसा नहीं है, कि जब वह रोने लग जाए तो उसे केवल खाना खिलायें और दूध पिलायें किन्तु वह आपकी गोद में बैठना चाहता है और आप उसे नीचे रख दें तो पेट भरा होने पर भी रोने लग जाएगा । यही स्थिति धार्मिक व्यक्तियों की हुआ करती है । इसलिए आज दिनों -दिन जैनियों की बहुत कमी होती जा रही है । आज तक कभी भी सुनने में नहीं आया कि जो व्यक्ति बिलकुल अभक्ष्य-भक्षी है उसे भक्ष्य-भक्षी, शाकाहारी बनने का कोई उपक्रम किया जा रहा हो।

भारतवर्ष शाकाहार प्रधान देश माना जाता है । विश्व में कई देश हैं । उन देशों में गणना करने पर ६० प्रतिशत जनता मांसाहारी सिद्ध हुई और केवल १० प्रतिशत ही शाकाहारी बच रही, उसमें से छुप-छुप कर मांसाहार करने वालों की बात शामिल नहीं है । आज "डॉयरेक्ट" खाने वाली वस्तुओं में शाकाहार जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई है । इसलिए वर्तमान में अहिंसा को मुख्यता देकर-अहिंसा ही हमारा धर्म है, अहिंसा ही हमारा उपास्य देव है, उसकी रक्षा करने के लिए सर्वप्रथम कदम बढ़ाना चाहिए ।

आज भारतवर्ष में कई स्थानों पर अनेक प्रकार की हत्याओं के माध्यमों से औषधियाँ और प्रसाधन सामग्री निर्मापित की जा रहीं हैं (बनाई जा रहीं हैं) और "इन्डॉयरेक्ट" रूप से आप लोग ही उसका उपयोग करते हैं । अभी सर्वप्रथम पण्डित जी ने कहा था कि यह बुन्देलखण्ड है, लेकिन बुन्देलखण्ड में भी ऐसी साग्रमी आने लगी है । समझने के लिए साबुन को ले लीजिए । पहले साबुन को जैनी लोग नहीं बेचते थे । बीड़ियाँ वगैरह भी नहीं बेचते थे । तम्बाखू की बिक्री करते थे, तो अष्टमी-चतुर्दशी को इसे भी बन्द कर दिया जाता था । सोडा - साबुन अष्टमी-चतुर्दशी और अन्य पर्वों के दिनों में उपयोग नहीं करते थे । आज के साबुन में अनेक प्रकार की चर्बियाँ आ गई हैं । साबुन में ही क्या ? खाने -पीने की चीजों में भी चर्बियाँ आ चुकी है, भले ही आप लोगों को ज्ञात ना हो । पहले दिन ही मैंने कहा था कि "मद्य - माँस - मधु का त्याग" इस त्याग का मतलब मात्र "डायरेक्ट" सेवन त्याग से नहीं है, किन्तु ऐसी

वहाँ और हिचकियों की प्रक्रिया यहाँ चालू हो गई । ऐसा सुनकर मैं सोचता रहा, विचार करता रहा । इसी प्रकार धार्मिकभाव को लेकर के अपने उपयोग को भेज दो, जहाँ कहीं भी दुःखी जीव हो, नियम से उन पर प्रभाव पड़ेगा । उन विचारों के अनुरूप कल्याण का मार्ग मिलेगा । बस ऐसा करने की चेष्टा प्रारम्भ करिये, फल अवश्य मिलेगा ।

आज करोड़ों रुपया बरसाया जा रहा है, लेकिन गरीब व्यक्तियों को, पतित विचारवालों को धार्मिक बनाने का भाव किसी के मन में नहीं आ रहा है । इसलिए इस प्रकार (पंचकल्याणक महोत्सव) के आयोजनों के माध्यम से, उस प्रकार के कार्यक्रम आज से ही प्रारंभ किये जायें । जो गरीब हैं, अशिक्षित हैं, अनाथ हैं, उसके लिये सनाथ बनाने का प्रयास किया जाए । बाद में उन्हें धार्मिक शिक्षण देने का प्रयास करो तो आज का यह आयोजन ठीक है, अन्यथा नाममात्र के लिए ही आयोजन रह जाएगा । दस व्यक्ति बैठकर इसकी प्रशंसा करने लगें, करें लेकिन मैं इस सिघई पदवी का समर्थन या प्रशंसा नहीं कर सकूँगा । एक जमाना था जब इस प्रकार का आयोजन कर उपाधियाँ दी जाती थीं पर आज यह जरूरी नहीं है ।

इन उपाधियों का मैं निषेध नहीं कर रहा हूँ किन्तु इनके माध्यम से अड़ोस-पड़ोस में जब तक सौहार्दमय व्यवहार नहीं बढ़ता तब तक इन उपाधियों का क्या प्रयोजन ? हमारे भगवानों ने तो कहा है कि - आधि, व्याधि और उपाधियाँ संसार में भटकने वाली हैं। अतः उपाधियों से दूर हो समाधि की साधना करें, तो वृषभनाथ भगवान की जय- जयकार करने में सार्थकता आ जायेगी, अन्यथा मात्र प्रशंसा से कुछ भी सार्थकता नहीं होने वाला ।

विश्व में क्या हो रहा है ? इसको देखने की चेष्टा करो । धर्म कहाँ नहीं है ? हमारे पास धर्म है, दूसरे के पास नहीं । हम सम्यग्दृष्टि हैं दूसरे मिथ्यादृष्टि । हम जैनधर्म की ज्यादा प्रभावना कर रहे हैं, दूसरे नहीं । इस प्रकार के भाव जिसके मन में हैं वह अभी जैनधर्म की बात समझ ही नहीं रहा है। वह जैनधर्म से कोसों दूर है ।

स्मयेन योन्यानत्येति, धर्मस्थान गर्विताशयः।

सोत्येति धर्ममात्मीयं, "न धर्मो धार्मिकैर्बिना"।।

।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।।

दो हजार वर्ष लगभग हो चुके हैं आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने डंका बजाया था । बन्धुओ ! जो मद के आवेश में आकर धर्मात्माओं के प्रति यदि अनादर का भाव व्यक्त कर रहा है तो वह अपने शुद्ध अहिंसा धर्म की हत्या कर रहा है । क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्बिना" कहा है। हमारे अन्दर संकीर्णता आ चुकी, और आती जा रही है । सन्तों का कहना है कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" । आज जैनी - जैनी, हिन्दू -हिन्दू भी एक प्रकार के दायरे/सीमाओं में बंधते चले जा रहे हैं । यह संकीर्णता धर्म का परिणाम नहीं है, इसे ध्यान रखिये । बातों से धर्म नहीं होता , कारण कि जो बहिरा है वह भी धर्म कर सकता है । जो अन्धा है लूला

है वह भी धर्म कर सकता है। परन्तु जो पंचेन्द्रिय होकर के, हाथ-पैर अच्छे होकर भी, मात्र ऊपर-२ बातें करता है तो वह कर्मसिद्धान्त से अभी सौ कोस दूर है । पास आने की चेष्टा करना चाहिए उसे । एक बार तो कम से कम गरीबों की ओर देखकर दया का अनुभव करो । धर्मात्मा यही सोचता रहता है, ऐसा सोचना ही अपायविचय धर्मध्यान है ।

अपायविचय धर्मध्यान का अर्थ क्या है व उसका क्या महत्व है ? आचार्य कहते हैं कि जितना आज्ञाविचय धर्मध्यान का महत्व है उतना ही अपायविचय धर्मध्यान का है । जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन नही करना, सर्वज्ञ की आज्ञानुसार चलना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है । इसकी सच्चाई से अपायविचय धर्मध्यान की महत्ता कहीं अधिक है । "संसार प्राणी का कल्याण हो , इनका दुःख दूर हो, सभी मार्ग का अनुसरण करें" ऐसा विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार की ही भावना में जब वृषभनाथ भगवान की पूर्वावस्था की आत्मा तल्लीन हुई थी उस समय तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध हुआ था । उसी का परिणाम दूसरे जीवन में असंख्यात जीवों का कल्याण एक जीव के माध्यम से हुआ । सुभिक्ष हुआ, दिशाबोध दिया और सर्वेसर्वा बने । आज भी उनके नाम से असंख्यात जीवों का कल्याण हो रहा है । ऐसा कौन -सा कमाल का काम किया उन्होंने ? यही किया जो उनके दिव्य - उपदेश से स्पष्ट है -

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया ना छोड़िये, जब लौं घट में प्राण ।।

क्या कहता है यह दोहा ? जब तक इस संसार में रहें, घट में प्राण रहें तब तक दया धर्म करो, तभी सबका, स्व - पर का कल्याण हो सकता है । यदि दया की जगह अभिमान घट में आया हुआ है तो तीन काल में भी कल्याण होने वाला नहीं । पाप का मूल अभिमान है, लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति अन्याय - अत्याचार के साथ वित्त का संग्रह करता है और मान के वशीभूत होकर यदि दान करता है तो वह कभी भी प्रभावना नहीं कर सकता, ना ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है । सबसे पहले नीति - न्याय से वित्त का अर्जन करें, फिर दानादि कार्य के माध्यम से अड़ोस-पड़ोस की सहायता करें, जैन आयतनों की रक्षा करने के लिए कदम बढ़ायें । इस प्रकार करना प्रत्येक सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है - ऐसी सन्तों की वाणी है । इस वाणी का जब तक अनुसरण होगा , धर्म का अभाव नहीं होगा, लेकिन जिस दिन जिनवाणी का अनुसरण बन्द हो जायेगा और अभिमान के वशीभूत हो जायेंगे, उस दिन रावण - राज्य आने में देरी नही । इस भारत में भी धर्म से शान्ति प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगी ।

एक उदाहरण दे रहा हूँ जिसमें धर्म क्या है ? कैसा है ? क्या तिर्यंच भी धर्मशास्त्र

का स्वाध्याय करते हैं ? क्या कभी तिर्यंच आपके समान ऊपर उपकार करते हैं ? क्या वे कोई धार्मिक अनुष्ठान करते हैं ? कभी मन्दिर भी आतेजाते हैं ? यदि आते - जाते हैं तो उन्हें धर्मलाभ होता है क्या ? आचार्यों ने कहा - धर्मलाभ हो यह कोई नियम नहीं । अभी पण्डित जी ने भी कहा था - आयोजन जितने भी हैं सभी साधन के रूप में हैं, साध्य के रूप में तो धर्म रहेगा । ये साधन हैं इनमें उलझे रहे, उपाधियों में उलझे रहे तो तिर्यंच हमसे कहीं आगे बढ़े हुए होंगे, जो इनसे सर्वथा दूर है ।

रामायण आपने पढ़ी होगी, सुनी होगी । पद्मपुराण में भी यह कथा आती है । जटायु पक्षी की वह कथा है जिसने रामायण की पृष्ठभूमि बना दी है । राम जब वनवास पर थे । सीता और लक्ष्मण भी साथ - साथ हैं । जंगल में अपना काल व्यतीत कर रहे हैं । एक दिन की बात सन्त आये। सभी ने आहार दान दिया । आहार दान के समय सन्त के पैर ध ोए गये थे । उस जल में एक जीव आकर बैठ गया और उसमें लोट - पोट करते ही, उसका सारा का सारा बदन व बाल स्वर्ण के हो गये । उसकी सभी ने प्रशंसा की । सन्त चले गये बात भी जाती रही ।.... एक दिन की बात । सीता को रावण हरणकर ले जाने वाला है तो वह जटायु पक्षी सोचता है - एक अबला, उसका हरण कर रहा है, उसके ऊपर प्रहार कर रहा है । और मैं यहाँ पर बैठा देख रहा हूँ । जबकि मैं संकल्पित हूँ ।

"रघुकुल रीति सदा चली आई । प्राण जायें पर वचन न जाई ।।"

राम ने मुझे प्रतिज्ञा दिलाई कि अनाथ के ऊपर यदि किसी का हाथ उठता है तो देखते न बैठना। हम लोग नश्वर जीवन को नहीं समझ रहे हैं, इसे अविनश्वर बनाने का प्रयास कर रहे हैं। जिस समय किसी धर्मात्मा के ऊपर संकट आ जाता है उस समय दूसरा धर्मात्मा यदि छुपने का प्रयास करता है तो वह कायर है। उसे नश्वर जीवन के सदुपयोग के लिए सिंह के समान गर्जना करते हुए आना चाहिए । मुझे कोई भय नहीं जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं । यही मेरा धर्म है, यही जीवन । धर्म सदा ही मेरे साथ रहेगा । मैं जीवित रहूँ या नहीं यह सोच वह आक्रमण को रोकने के लिए तैयार हो जाता है । वही सच्चा धर्मात्मा माना जाता है ।

धर्मात्मा के ऊपर आज पहाड़ टूट रहे हैं और हम देख रहे हैं, फिर भी अपनी आत्मा को धर्मात्मा मानते हैं । उसे मैं तो जीवित भी नहीं मानता। जड़ का धर्म मानना भले ही स्वीकार कर लूँगा। आप लोग जिस प्रकार धन की रक्षा करते हैं, उससे भी बढ़कर धर्म की रक्षा करना चाहिए। धर्म के द्वारा ही जीवन बन सकता है। यदि धर्मात्मा का अनादर मन से, वचन से, काय से, कृत-कारित-अनुमोदन से स्वप्न में भी करते हैं, तो उसके धर्म का

नहीं, वरन स्वयं के अहिंसा धर्म को अनादृत करते हैं । ऐसी गर्जना इस युग में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसे महान आचार्यों ने की है । मान बहुत बढ़ता जा रहा है, यह सब पंचम काल की देन है । हमारा जीवन ऐसा बनना चाहिए, जैसा सिगड़ी के ऊपर भगौनी का । उसमें दूध तप रहा है दो किलो तीन किलो और भी भर सकता है । उतना ही दूध तपने के उपरान्त ऊपर आने लग जाता है । तपन के कारण वह ऊपर आता रहता है । ज्यों ही ऊपर आता है , त्यों ही तपने वाला दूध समाप्त न हो जाए, इस भय से कोई व्यक्ति पास आ जाता है और क्या करता है ? उस समय वह जल्दी - जल्दी शान्तिधारा छोड़ देता है, दूध नहीं ढाँकता, बल्कि एक चम्मच जल डाल देता है । डालते ही दूध नीचे चला जाता है । इसका मतलब क्या हुआ ? मतलब तो ये हुआ कि जब अग्नि ने दूध में जो जल था उसे जलाया तो दूध ने भी सोचा कि जब मेरे मित्र, दोस्त, मेरे सहयोगी के ऊपर यदि अग्नि ने धावा बोला है, तो मैं भी इसे समाप्त करूँगा । यही सोचकर वह उबलता हुआ, आँखो को निकालकर अग्नि की ओर आने लगा । लेकिन दूध खाने वाले ने डर करके कि अग्नि के प्राण न निकल जाए, शान्तिधारा छोड़ दी । अरे भैया ! तुम्हारे मित्र को हम दे देते हैं, तुम बैठ जाओ । तो दूध बैठ जाता है ।

ऐसी होनी चाहिए मित्रता । उसको ही मित्र, दोस्ती, साथी और सहयोगी कहते हैं,जो विपत्ति के समय पर साथ दे । अन्यथा न तो वह साथी माना जाएगा, न धर्मात्मा ही। बन्धुओ ! मान प्रतिष्ठा के लिए संसारी प्राणी सब कुछ त्याग कर देता है , लेकिन अपने आत्मोदय के लिए कुछ भी नहीं करता । मैं इन सभी कार्यक्रमों की प्रशंसा तभी करता हूँ, जब आप लोगों के कदम इस दिशा की ओर बढ़ते हैं । यह जीवित कार्य है । इस युग में यह कार्य हुआ ही नहीं है । हुआ भी है तो बहुत कम ।

विनोबा जी, जिस समय दक्षिण की ओर भूदान को लेकर के आए थे, तभी मुझे महापुराण के भूदान की बात याद आ गई । वहाँ पर गृहस्थों के चार धर्मों में पूजा भी रखी है । पूजा का अर्थ भूदान लिखा गया है । जी हां ! महापुराण का यह उल्लेख है जो व्यक्ति खाने के लिए मुहताज हो रहा है, उसके लिए आश्रय दे दीजिए तो वह नियम से धर्म को अपनायेगा। आज हम तात्कालिक उपदेश तो दे देते हैं, पर उपदेशानुसार कार्य नहीं करते। इस कारण वह धर्म के प्रति जल्दी आकर्षित नहीं होता । युग बदल चुका है। विनोबा जी की बात को सुनकर मैने सोचा - हाँ, आज भी भूदानयज्ञ की बात जीवित है जो कि जैनाचार्यों के द्वारा घोषित की गई थी।

आज कौन-कौन ऐसे व्यक्ति हैं जो आवासदान देने को तैयार हैं । कभी आपने सोचा जीवन भर में कि जो गर्मी - सर्दी से पीड़ित हैं उसे आवास दान दें, एक मकान बनवा दें। आवास देने के उपरान्त उनको ऐसा ही नहीं छोड़ा जाए किन्तु उन्हें कह दिया जाए कि देखो

भैया ! तुम्हारी आवास सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति तो हो गई, अब कम से कम धर्म कर्म करना चाहिए ।

राजस्थान की बात है । जहाँ पर एक सेठ जी ने एक फैक्टरी (मिल) खोली थी। उसमें जो गरीब - गरीब व्यक्ति थे । उनको काम पर लगाया और उनकी सारी की सारी, वैतनादि की भी रक्षा कर दी गई । फिर कहा गया - हमने इतना सारा प्रबन्ध आपका कर दिया है अब प्रत्येक व्यक्ति को रात्रिभोजन, मद्य, मांस, मधु का त्याग और देवदर्शन के उपरान्त ही मिल में काम करना चाहिए। जब तक वे रहे, तब तक तो कार्यक्रम वैसा ही चलता रहा, बाद में वह समाप्त हो गया और मिल भी उनके हाथ से निकल गया ।

बन्धुओ ! जो कोई भी कार्य किया जाता है । धर्म के लिए किया जाता है । वह भी क्रम से, विधिपूर्वक करना चाहिए । मात्र जय - जयकार करने से कुछ नहीं होगा । अभी मैं देख रहा था कि, जुलूस प्रारंभ हो गया, रथ भी प्रारंभ हुआ हम आगे - आगे चल रहे थे। इस आयोजन को देखने के लिए हजारों - लाखों की संख्या में जनता आई पर चलने वाले लोग प्रशस्त चाल से नहीं चल रहे थे । साथ में लाठी वाले तो धूल भी उड़ा रहे थे । जिसमें दृश्य दिखना ही बन्द हो गया। यहाँ इन अवसरों पर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जो दूर - दूर से व्यक्ति आये हैं, उन्हें भी पूरा - पूरा लाभ मिले । यही प्रेम है, वात्सल्य है । उन्हें पहले व आगे बैठाना चाहिए । इस प्रकार का वातावरण हो जाए तो इसी का नाम राम - राज्य है।

आज हम कहते तो हैं कि राम - राज्य आ जाये । भगवान महावीर स्वामी का राज्य आ जाये । महावीर भगवान का सन्देश मिल जाए, लेकिन कहने मात्र से तीन काल में भी मिलने वाला नहीं बातों के जमा - खर्च से कभी भी कुछ नहीं होता । जिस प्रकार दूध में ज्यों ही पानी डाला, वह शान्त हो गया । उसी प्रकार हम भी यदि अपने साधर्मियों के प्रति वात्सल्य रखेंगे, सद्व्यवहार करेंगे तो मैं कहता हूँ कि स्वप्न में भी किसी के ऊपर कोई संकट आने वाला नहीं । अभी पण्डित जी ने कहा था - धर्म संकट में है, धर्मगुरु संकट में हैं जिनवाणी भी संकट में है। किन्तु मैं कहता हूँ कि ये तीनों संकट मुक्त हैं तभी से मुक्ति के साधन हैं । संकट तो हमारे ऊपर है । संकट तभी आते हैं जब हमारे भीतर ये तीनों जीवित नहीं रहते । धर्म - कर्म से हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा तो जीवन बिना संकट के रह नहीं पायेगा । इनकी रक्षा की जाए तो कोई आपत्ति नहीं, इनकी रक्षा का अर्थ यही है कि हम धर्म को ही जीवन समझ लें । मात्र लिखना - पढ़ना धर्म नहीं है, धर्म तो जीवित वस्तु का नाम है ।

हम अहिंसा परमो धर्म की जय बोलते हैं, "अहिंसा अमर हो " ऐसा कहते हैं।

लेकिन गांधी जी ने, जिनके पास मात्र दो सूत्र थे, अहिंसा और सत्य। इन दोनों सूत्रों के माध्यम से ढ़ाई सौ वर्ष से आई हुई ब्रिटिश सत्ता से, बिना शस्त्र, पिस्तौल, बिना राईफल, तलवार, ढाल, तोप और बिना एटमबम के ही स्वतन्त्रता दिलाई। उन्होंने सत्य, अहिंसा का ऐसा "एटमबम" छोड़ दिया कि सभी देखते रह गये और सोचते रहे, ऐसी कैसी खोपड़ी है। हम लाखों रुपये भी दे दें तो भी नहीं मिलने वाली। लाख क्या ? कई लाखों में भी मिलने वाली नहीं। यह अहिंसा की उपासना है, उसी का यह प्रभाव है कि ब्रिटिश सरकार को यहाँ से भागना पड़ा। आज ३५-४० वर्ष हो गये स्वतन्त्रता मिले इस देश को, लेकिन उसका सदुपयोग, सही-सही नहीं हो पा रहा है। आज हम आपस में लड़ रहे हैं कुर्सी के लिए। ऐसी - ऐसी भी लड़ाई हमने देखी सुनी है कि एक कुर्सी के लिए दस व्यक्ति लड़ रहे हैं तो कुर्सी नियम से टूटेगी ही। पहले तो ऐसा होता था - कहते थे कि इस कुर्सी पर आप बैठिये, तो लोग कहते थे कि आप ही इस पर बैठने के पात्र हैं। हम तो आपके निर्देशन के अनुसार चलेंगे। पर आज ? प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है। कोई पीछे चलना नहीं चाहता। पागल भी हमेशा आगे चलना चाहता है उसके पीछे हँसने वाले। पागल कभी भी हँसता नहीं। क्या नेता बन जाएगा वह? नहीं, ऐसा तीन काल में भी नहीं हो सकता। कुर्सी केवल एक निमित्त है। उस कुर्सी का प्रयोजन इतना है कि उस पर बैठकर अपनी आँखों से देख सकें कि - कहाँ पर, कैसे-कैसे रह रहे हैं। हम उनके दुःख-दर्द को समझ सकें और मिटाने का प्रयास रात-दिन करें। एक जगह लिखा है -

"परिहर्तुमनागसि"

जो निरपराध जीव हैं, उनके ऊपर प्रहार करने के लिए क्षत्रियों के हाथ में तलवार नहीं दिये गये। किन्तु अपराध को दूर करने के लिए दिये गये हैं। अपराधियों को मारने के लिए नहीं, किन्तु अपराधियों को भयभीत करने के लिए शस्त्र दिये गए हैं। उपदेश भी इसीलिए होता है कि दुःख दूर हो और शान्ति की प्रस्थापना हो।

आप लोगों का कार्य आगे होने वाला है। मैं भगवान से यही प्रार्थना करता हूँ कि आपकी भावना, धर्म के प्रति दिन दूनी-रात चौगुनी निष्ठा के साथ बढ़ती रहे। तीन घण्टे हो गये किसी को भी ना खाने की चिन्ता है, ना पीने की। पीछे क्या हो रहा है इसका ख्याल भी नहीं रहा। गर्मी में भी सभी लोग पैदल चल रहे हैं, उस पर भी नग्न पैरों। फिर भी सभी के मुख पर आनन्द की लहरें दिखाई दे रहीं हैं। मुझे देखकर यही लगता है कि आज भी अटूट श्रद्धा है, ऐसी ही बनी रहे यही भगवान से प्रार्थना करते हैं। कैसा भी युग आ जाये, उसको शान्ति के साथ, वात्सल्य-प्रेम के साथ निभायें। रूखी-सूखी दो रोटी हों, इसकी भी कोई परवाह नहीं, बस ! प्रेम के साथ दो व्यक्ति मिलकर एक रोटी भी खाते हैं तो पहलवान बन जाते हैं। ऐसा अकेला ही व्यक्ति दस रोटी भी ईर्ष्या के साथ खाता है तो उसे अस्पताल जाने की आवश्यकता पड़ती है। बाजरे की सूखी-रूखी रोटी खाओ लेकिन धर्म की रक्षा के लिए धर्मात्मा बन कर

खाओ। तीन काल में भी आपको कष्ट नहीं होगा। देव आकर आपकी रक्षा करेंगे। दानव जब उपसर्ग करेंगे तो देव आकर हटायेंगे, खदेड़ेंगे और रक्षा होगी।

अहिंसा धर्म एवं धर्मात्मा की रक्षा करना देवताओं का काम है। इसीलिए उन्हें शासन देवता भी कहते हैं। जब हम धर्म करते हैं - उसमें दृढ़ रहते हैं तो वे ऊपर से आ जाते हैं। वे भी देखते रहते हैं कि कौन क्या कर रहा है। जैसे पुलिस लड़ते हुए व्यक्तियों के बीच नहीं आती और ना ही आने की आज्ञा शासन की है। लड़ भिड़कर गिर जाते हैं, जब उठना भी मुश्किल हो जाता है, उस समय पुलिस पहुँचकर पकड़ती है। कॉलर पकड़कर कहती है क्या कर रहे हो ? अपराधी कहते हैं - आप जो कहो मैं वह करने को अब तैयार हूँ। इसी प्रकार देवता लोग भी आकर सहायता करते हैं। यदि आपका कार्य ठीक-ठाक चल रहा है तो उनके सहयोग की आने-जाने की कोई आवश्यकता नहीं। उस समय तो वह आपकी प्रशंसा करके वंदना करेंगे और अपने आपको कृतकृत्य मानेंगे।

धन्य है यह नर साधना,
इन्द्र पद ने भी की हो, जिसकी आराधना ।

ऐसे इन्द्र भी, आप लोगों की प्रशंसा के लिए आयें। अतः धन्य है अन्तिम मंगलाचरण के रूप में यह दोहा आपके सामने है -

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोड़।
हरी-भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ।।
(केसली : ११-३-८६ परिनिर्वाण दिवस, गजरथमहोत्सव वेला)

❑ ❑ ❑

भगवान महावीर की जय ....

चलती चक्की देखकर .....

※ संसार रूपी महान चक्की में सारा का सारा संसार पिसता जा रहा है, सुख की बाधा और दुख से भीति संसार के प्रत्येक प्राणी को है। फिर भी सुख की प्राप्ति और दुःख का अभाव क्यों नहीं हो रहा है ?

※ जिसने धर्म रूपी कील का सहारा लिया है, जिसने रत्नत्रय का सहारा लिया है, वह तीन काल में पिस नहीं सकता, क्योंकि केन्द्र में हमेशा सुरक्षा रहती है और परिधि में हमेशा घुमाव।

※ सुख के साथ प्राप्त हुआ जो ज्ञान है, वह दुःख के आने पर पलायमान हो जाता है। कपूर के समान उड़ जाता है।

एक दोहा रखा जा रहा है आपके सामने, जो आप लोगों को ज्ञात है और कण्ठस्थ भी होगा --

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।।

पिता और पुत्र दोनों हवा खाने जा रहे हैं। दवा खाने नहीं (हँसी), चर्चा चल रही है पिताजी आध्यात्मिक हैं, दर्शन का अच्छा ज्ञान और उम्र के लिहाज से तो वृद्ध हैं ही, और जाते-जाते कहते हैं अपने पुत्र से कि देख ले बेटा ! उस ओर जिस ओर मेरी अँगुली है यह चक्की जो चल रही है, यही दशा इस संसार की है।

संसार रूपी महान चक्की में सारा का सारा संसार पिसता जा रहा है सुख की बाधा और दुःख से भीति संसार के प्रत्येक प्राणी को है, फिर भी सुख की प्राप्ति और दुःख का अभाव क्यों नहीं हो रहा है ?--- इसलिए नहीं हो रहा है क्योंकि बेटा-यह संसारी प्राणी संसार में ही रुलता रहा है, इसको दुःख का अनुभव करना ही होगा क्योंकि दो पाटों के बीच में धान का दाना साबुत नहीं बच सकता। बेटा कहता है पिता जी जरा इस पर भी तो ध्यान दो, एक दोहा और भी तो सुनने में आता है-

चलती चक्की देखकर करत कमाल ठिठोय।
जो कीले से लग गया मार सके नहिं कोय।।

पिता जी-यह कोई एकान्त नहीं है, यह कोई सिद्धांत/नियम नहीं है कि संसार के सारे के सारे प्राणी दुःख का ही अनुभव करते हैं। कौन कहता है कि संसार के सारे जीव जन्म-मरण रूपी पाटों के बीच पिसते ही रहेंगे। जिसने धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया है, जिसका जीवन ही धर्म बन गया है उसके लिए ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है दुनियाँ में जो मार सके, संसार में भटका सके। पिता जी इस रहस्य को हर कोई नहीं जानता, और इस रहस्य को जानने की चेष्टा भी नहीं करता। इस संसारी प्राणी की क्या स्थिति है ? तो आचार्य समन्तभद्र जी कहते हैं कि-

"विभेति मृत्यो र्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाछतिनास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः।।"

(स्वयम्भू स्तोत्र/३४)

यह अज्ञानी प्राणी मृत्यु से डरता है किन्तु उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता और निरन्तर मोक्षसुख को चाहता है किन्तु उसकी प्राप्ति उसे नहीं होती, फिर भी भय और काम के वशीभूत हुआ यह अज्ञानी प्राणी कष्ट सहता रहता है। वह कहता है पिता जी इन परिस्थितियों से वही डरता है जो इस रहस्य को नहीं जानता और वही इस संसार रूपी चक्की में पिसता रहेगा। इस रहस्य को जानने वाला ही इस संसार समुद्र से पार उतर सकता है। ऐसी कोई--- कहीं से नौका नहीं आने वाली जो पार करा दे।

कबीर और कबीर का पुत्र, नाम क्या है भैया ? जब कोई अच्छा कार्य करता है तो आप कहते हैं कि वाह------आपने तो 'कमाल' कर दिया ! कमाल कर दिया !! कमाल कर दिया !!! समझ में नहीं आता था मुझे इसका मतलब, अब ज्ञात हुआ कि जब पिता जी से भी आगे बढ़ जाता है बेटा, तब उसका नाम पड़ता है 'कमाल'। वह पिताजी से कैसे आगे बढ़ता है देख लीजिए आप, यदि आप भी उसके अनुसार कमाल करें तो आपका भी नाम हो जाएगा कमाल ! लेकिन आप लोग कुछ कमाल का काम नहीं करते। वह कहता है पिता जी ऐसी बात नहीं है। यह जो चक्की का उदाहरण आपने दिया वह उदाहरणाभास है, दृष्टान्त जो दिया वह दृष्टान्ताभास है कैसे है बेटा ? उत्सुकता जाग्रत हुई कम से कम देख तो लिया जाए क्या कहता है ? लेकिन ऐसी गहराई में पहुँचा दिया कमाल ने कबीर को। वाह बेटा कमाल कर दिया तुमने ऐसा कह दिया उन्होंने/ऐसी दृष्टि दी मुझे कि संसार को सुखी कैसे बना दिया जाए, दुःख का अभाव कैसे हो ? तो कहीं भागने की आवश्यकता नहीं है उसी चक्की में रहिए लेकिन चक्की के चक्कर में मत आइए। आप लोग चक्कर में आ जाते हैं इसलिए पिस जाते हैं। उस ही

चक्की में रहिए लेकिन कहाँ पर रहिए, आजकल चक्की तो है नहीं, क्या बताएं ? आप लोग पीसते ही नहीं।

एक बार देखा था, जिस समय छोटा था, जो चक्की चलाने वाला था, वह बीच-बीच में हाथ डालकर यूँ यूँ (हाथ का इशारा) करता था, मैंने सोचा धान तो डालता नहीं है और अँगुली डालकर यूँ-यूँ करता है, क्या ये भी कमाल कर रहा है उसके अन्दर अँगुली ले जाने की क्या आवश्यकता थी ? तो हमने पास जाकर देखा चक्की चल रही है और वह बीच बीच में यूँ-यूँ करता था। यूँ-यूँ करते-करते जो धान के दाने वहां नहीं जा रहे थे रुके हुए थे तो अँगुली के माध्यम से वे चक्की के चक्कर में आ जाते और पिस जाते हमने सोचा वाह भाई वाह ! धान में भी कमाल है और इसकी अँगुलियों में भी कमाल है क्योंकि अपनी अँगुली तो सुरक्षित बचा लेता है। कील का सहारा जिसने ले लिया उसको कोई कह नहीं सकता कि तू पिस जायगा। चाहे हजार बार चक्कर क्यों न लग जाए। केन्द्र में हमेशा सुरक्षा रहती है और परिधि में हमेशा घुमाव रहता है , केन्द्र में द्रव्य का अवलोकन होता है।

सुख और दुःख यह सब अपनी-अपनी दृष्टि के ऊपर निर्धारित है। संसार में जितने जीव रहते हैं सभी को दुःख होता है ऐसी बात नहीं है। ध्यान रखिये जेल में सबको दुःख नहीं होता, जो कैदी हैं जिसने अपराध किया है, जो न्याय-नीति से विमुख हुआ है, जिसको जेल में बंद कर दिया है उसे ही दुख होता है किन्तु उस ही जेल में, उन्हीं सीखचों के अन्दर जेलर भी रहता है किन्तु उसको रंचमात्र भी दुःख नहीं होता। उस जेलर को क्यों दुःख नहीं होता ? और कैदी को दुःख क्यों ? तो बंधन कैदी के लिए है जेलर के लिए नहीं। मजे की बात तो यह है कि कैदी फिर भी रात में आराम की नींद सो सकता है किन्तु रखवाली करने वाला जेलर सोता तक नहीं फिर भी खुश रहता है और प्रभु से यही प्रार्थना करता रहता है कि हे भगवन् ! यह जेल कभी न छूटे इसमें हमारा दिन दूना-रात चौगुना विकास होता रहे। किन्तु एक सुख का अनुभव कर रहा है और एक दुःख का। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख और दुःख का अनुभव करने में कारण व्यक्ति की विचारधारा ही बनती है, मन की स्थिति के ऊपर ही आधारित है उसका संवेदन, बिना उपयोग के वह सुख और दुःख संभव नहीं/समयसार में 'आचार्य कुन्दकुन्द देव' कहते हैं कि उपयोग की धारा जब भाव रूप में परिणत हो जाती है अर्थात् उन-उन पदार्थों की ओर अथवा कर्मफल की ओर बह जाती है, तो उस समय उस भाव के द्वारा कर्मों का समार्जन हुआ करता है अन्यथा इन कर्मों को कोई बुला नहीं सकता। उदयमात्र बंध का कारण नहीं है किन्तु अपने अन्दर विद्यमान राग द्वेष/विषय-कषाय एवं पर पदार्थों में ममत्व बुद्धि का होना ही बंध का कारण है। वस्तु बंध के लिए कारण नहीं है बल्कि उस वस्तु के प्रति हमारा जो अध्यवसान भाव है वही बंध का कारण है।

संसार में रहना तो अपराध है ही, किन्तु संसार में लीन होकर रहना और महा अपराध है। इस अपराध से छुड़ाने के लिए ही संत लोग हमारे लिए हितकारी मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं उनका जीवन, उनका साहित्य भी हमें एक नई दिशा नया बोध दे रहा है, यह सारा का सारा उन्हीं के परिश्रम का फल है।..... कमाल हो गया कबीर को ज्ञान हो गया कि वस्तुतः बात सही है कि जिसने धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया रत्नत्रय का सहारा ले लिया तो वह तीन काल में पिसेगा नहीं चक्की के चक्कर में आएगा नहीं। संसार में आवागमन करते हुए भी जिसने संयम का आधार ले लिया अब उसको भटकाने/अटकाने वाली तीन लोक में कोई शक्ति नहीं। दूसरी बात यह है कि जहाँ कहीं भी धर्मात्मा पुरुष चला जाएगा वहाँ जाने से पहले लोग स्वागत सत्कार के लिए खड़े रहेंगे, और हाथ जोड़कर कहेंगे कि किधर से आ रहे हैं आप, आइये हम आपकी सेवा के लिए तैयार हैं, हमारी सेवा मंजूर कर हम सभी को अनुग्रहीत कीजिए। महान पुण्यशाली महान धर्म के आराधक होने का यह परिश्रम है कि जहाँ कहीं भी धर्मात्मा चला जाये पग-पग पर उसकी पूजा हुआ करती है। किन्तु जिसने धर्म का सहारा नहीं लिया 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' वाली बात जिसके जीवन में है उसे तो कुछ समयोपरान्त पग-पग पर ठोकरें खाना पड़ेगी, और अनंतकाल तक इसी संसार रूपी चक्की में ही पिसना पड़ेगा। असंयमी का जीवन महान संक्लेशमय कष्टदायक होगा और एक समय ऐसी स्थिति आ जायेगी, जैसी गर्मी के दिनों में होती है छाया में आप बैठे हो आराम के साथ प्रवचन सुन रहे हो और यदि छाया नहीं होती तो क्या स्थिति होगी ? ठीक वैसी ही स्थिति संयम के अभाव में संसारी प्राणी की होती है। ध्यान रखें संयोगवश कभी यह जीव देवगति में भी चला जाता है तो वहाँ पर भी संयम के अभाव में प्राप्त हुए इन्द्रिय सुखों के छूटते समय और अपने से बड़े देवों की विभूति को देखकर संक्लेश करता है जिस संक्लेश का परिणाम है कि उसका अधः पतन ही हुआ करता है और उसे दुःख सहना पड़ता है।

'विषय चाह दावानल दह्यो, मरतविलाप करत दुख सह्यो'

(छहढाला / पहली ढाल)

जो सुख मिला है वह आत्मा के द्वारा किए हुए उज्ज्वल परिणामों का परिणाम है और जो दुःख मिला है वह भी आत्मा के द्वारा किए हुए अशुभ परिणामों का फल है। यह संसार एक झील की भाँति है जो सुखदायक भी है और दुखदायक भी है। यदि नौका विहार करके झील को पार किया जाये तो आनन्द की लहर आने लगती है, किन्तु असावधानी करने से सछिद्र नाव में बैठने से प्राणी उसी झील में डूब भी जाता है। इस बात को आप उदाहरण के माध्यम से समझ लीजिए, समय ज्यादा नहीं लेना है, बस थोड़े में ही कमाल करना है-

अब देख लीजिए आप, एक व्यक्ति अंडरग्राउन्ड में है, उसका पालन-पोषण/शिक्षण सब अंडरग्राउन्ड में हो रहा है, प्लेग्राउन्ड भी अंडरग्राउन्ड में बने हुए थे। आना-जाना

खाना-पीना, सोना-उठना - बैठना सब अंडरग्राउन्ड में ही होते थे। वहाँ पर सारी की सारी व्यवस्था वातानुकूल (एयर कण्डीशन) और मनानुकूल (मन के अनुरूप) थी। उनके लिए प्रकाश की व्यवस्था कैसी थी? सूर्यप्रकाश और बिजलियों का प्रकाश सहन करने की क्षमता उनकी आंखें में नहीं थी, देखते ही आँखों में पानी आ जाता था, इसलिए हीरा-मोती वगैरह से बने हुए रत्नदीपक का प्रबन्ध रहता था, रत्नदीपक के प्रकाश में ही जिनका जीवन पल-पल, पल रहा था, बाहरी वातावरण को सहन करने की शक्ति जिनके शरीर में नहीं थी। और यदि छोटा सा सरसों का दाना भी बिस्तर पर आ जाए तो उन्हें रात भर नींद नहीं आती थी। मुझे समझ में नहीं आता कि वहाँ पर सरसों का दाना गया ही क्यों ? लेकिन सुख की उत्कृष्टता दिखलाने के लिए कवियों ने भेजा है। यह ध्यान रखना उनका शरीर इतना कोमल था कि सरसों का दाना तो फिर भी ठीक है यदि मुझसे पूछा जाय तो मैं तो यही कहूँगा कि मखमल के जो बाल हैं वह भी चुभते होंगें उनको। इससे संबधित एक बात और सुनाऊँगा बाद में ।..... तो हाँ उनको भोजन के लिए कमल पत्रों में रखे हुए चावल का ही भात बनता था। और उसे भी वह एक-एक दाना चुगते थे क्योंकि अन्य विधि से भात बना दिया जाये तो उन्हें हजम नहीं होता था, पेट में दर्द हो जाता था। अब आगे और कमाल की बात सुनाऊँ कि वह इतने सुकमाल थे कि यदि उनके सामने ककड़ी का नाम ले दिया जाये तो उन्हें जुकाम हो जाता था, (श्रोता समुदाय में हँसी)..... खाने की बात तो बहुत दूर रही। इस प्रकार होते हुए उनका जीवन कैसे चल रहा था, भगवान ही जाने। उनकी माँ थी, पत्नियाँ भी थीं, सब कुछ कार्यक्रम जैसा आपका चल रहा है वैसा ही चलता था।

किन्तु समय ने पलटा खाया अब ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है उन्हें, जीवन के अन्दर एक किरण जाग्रत होती है, रत्नदीपक की किरणें तो मात्र बाहरी देश को आलोकित करती थीं, किन्तु भीतरी देश को प्रकाशित करने की क्षमता उनमें नहीं थी। अतः भीतरी देश को प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की, वैराग्य की किरणें फूटती हैं। आत्मा के अन्दर उन किरणों ने कमाल कर दिया, जीवन की रूपरेखा ही बदल दी, अज्ञान अन्धकार समाप्त हो गया, इसलिए रात्रि में वह चुपचाप उठता है, पत्नियाँ सोई हुई थीं, इधर-उधर देखता है, रेशम की साड़ियाँ रखी हुई दिख जाती हैं, उन सभी को एकत्रित कर एक दूसरे से गाँठ बांध कर खिड़की से बांध देता है और बिना किसी से कहे साड़ियों के सहारे नीचे उतरना प्रारंभ कर देता है। जिसके पैर आज तक सीढ़ियों पर नहीं टिके आज वही रस्सी का बैलेंस संभाले हुए है। एक साथ तो नीचे नहीं आए क्योंकि कार्य की पूर्णता क्रमशः हुआ करती है, ये सब क्रियायें कुछ समय को लेकर हुआ करती हैं, एक समय में नहीं हुआ करती। सभी कार्यों के लिए समय आपेक्षित रहता है, बस केवल ज्ञान एवं वैराग्य जाग्रत होना चाहिये। प्रत्येक कार्य सम्पादित हुआ करते हैं और होते ही रहते हैं, असंभव कोई चीज नहीं है।

एक उदाहरण छोड़ दिया था हमने ! कौन सा है .... हाँ रत्न कम्बल जिसे ओढ़ने-बिछाने के लिए खरीदा था, जिसको खरीदने की क्षमता वहाँ के राजा की नहीं थी इतना अमूल्य था वह, जिसे देखकर उसकी कीमत सुनकर राजा कहता है कि यदि इसे खरीद लूँ तो मेरा सारा का सारा भण्डार खाली हो जायेगा, ले जाओ इसको मैं इसे नहीं खरीद सकता। उस रत्न कम्बल को उसी नगर में रहने वाले सेठजी ने खरीद लिया। और बेटा सुकमाल को उपयोग करने दे दिया, लेकिन वह दूसरे ही दिन कहता है कि पिताजी इसके बाल मुझे चुभते हैं, कोई बात नहीं बेटा इसको अब हम वापिस तो नहीं कर सकते अतः माता-पिता ने अपनी बहुओं (सुकमाल की पत्नियों) के लिए जूतियाँ बनवा दीं ..... अब बोलिए आप ! इनके सुख वैभव की पराकाष्ठा। इतना कोमल शरीर था किन्तु आज वही नंगे पैरों चला जा रहा है, पगतल लहूलुहान हो गए, कोमल-कोमल पगतल होने के कारण लाल-लाल खून बहने लगा, कंकर - काँटें चुभते जा रहे थे फिर भी दृष्टि नहीं उस तरफ, और अविरल रूप से आत्मा और शरीर के पृथक-पृथक अस्तित्व की अनुभूति करने के लिए कदम बढ़ रहे थे, बाहर की ओर दृष्टि नहीं है यदि है तो वह कहती है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। चलिए मंजिल तक पहुँचना है, और वह पगडंडी ढूँढता-ढूँढता एकाकी चला जाता है उस ओर जिस ओर से मांगलिक आवाज आ रही थी जिस ओर अपना काम होना था।

वीतराग मुद्रा को धारण करने वाले एक मुनि महाराज से साक्षात्कार हो जाता है। रागी और विरागी का अनुपम मिलन ! वह भी वीतरागी बनने के अभिमुख हुआ है, पगतल से खून निकल रहा है फिर भी काया के प्रति कोई राग नहीं, ... आह की ध्वनि तक नहीं आ रही है ओठों तक ..... और भीतर में भी रागात्मक विकल्प तरंगे नहीं उठ रही हैं। वह सोच रहा है तीन दिन के उपरान्त तो इस शरीर का अवसान होने वाला है, बहुत अच्छा हुआ, मैं अन्त समय में तो कम से कम इस मोह निद्रा से उठकर सचेत हो गया। और महान पुण्य के उदय से सच्चे परम वीतराग धर्म की शरण मिल गयी। अब मुझे कुछ नहीं करना है, आत्म कल्याण करने के लिए बस उस उपादेयभूत वीतरागता को प्राप्त करना है, जो कि इस संसार में सर्वश्रेष्ठ और सारभूत है। जिसकी प्राप्ति के लिए स्वर्गों के इन्द्र भी तरसते रहते हैं, जिस निर्ग्रन्थ दशा के माध्यम से केवलज्ञान की उत्पत्ति होने वाली है, अक्षय अनंत ज्ञान की उपलब्धि मुनि बनने के बाद ही होती है। इस शुद्धात्मा की अनुभूति के लिए हमें राग-द्वेष विषय कषाय इन सभी वैभाविक परणतियों से हटना होगा, तभी हम उस निर्विकल्पात्मक ज्ञानीपने को प्राप्त कर सकेंगे। उस ज्ञानी आत्मा की महिमा क्या बताऊँ --

णाणी रागप्पजहो सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो।
णो लिप्पदि कम्म रयेण दु कद्दम मज्झे जहा कणयं।।
अण्णाणी पुण रंत्तो, सव्व दव्वेसु कम्ममज्झगदो।

लिप्पदि कम्मरयेण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।
(समयसार / निर्जराधिकार)

कितनी सुन्दर हैं ये गाथा आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि ज्ञानी वह है जो कर्मों के बीच में, विषयों के बीच में रहता हुआ भी अपने स्वभाव में रहता है जैसे कीचड़ के बीच में स्वर्ण रहते हुए भी अपने गुण धर्म को नहीं छोड़ता, निर्लिप्त रहता हुआ सदा अपने स्वरूप में ही स्थिर रहता है। जगत-जगत में रहता है किन्तु वह ज्ञानी जगत में भी जगत (जागृत) रहता है; अपने आप में जागृत रहता है और औंरो को भी जगाता है। वह अपनी आत्मभक्ति में ही दौड़ता चला जाता है, भागता रहता है और स्वभाव में लीन हो जाता है। बाहरी भावना यह पर्याय दृष्टि का प्रतीक है और भीतर ही भीतर भागना, भीतर ही भीतर विहार करना यह यथाख्यात विहार विशुद्धि संयम का प्रतीक है। वह अपनी आत्मा में ही विहार करता जा रहा है। कोई तकलीफ नहीं कोई परेशानी नहीं, देख लीजिए मुनि महाराज के मुख से वचन सुनकर दिगम्बर दीक्षा धारण कर लेता है। दीक्षा लेने के उपरान्त और क्या-क्या होता है, अब देखेंगे, आप कमाल की बात ---

अब सूत्रपात होता है मोक्षमार्ग का। उपसर्ग और परीषहों से गुजरने वाला ही मोक्षमार्गी होता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव, आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अपने अध्यात्म ग्रन्थों में लिखा है कि जो सुख के साथ प्राप्त हुआ ज्ञान है वह दुःख के आने पर पलायमान हो जाता है, कपूर के समान उड़ जाता है । और जो कष्ट/दुख परीषह झेलकर ज्ञान अर्जित किया जाता है वह अनुकूल/प्रतिकूल वातावरण में भी स्थायी बना रहता है। ध्यान रखो पौधे को मजबूत करना है, तैयार करना है, अंकुरित बीज का विकास करना है तो मात्र खाद पानी ही पर्याप्त नहीं है उसे प्रकृति के अन्य वातावरण की भी आवश्यकता रहती है। यदि आप सोचते हो कि बीज को छाया में बोने से अच्छी सुरक्षा हो जाएगी, किन्तु यह ध्यान रखना वह बीज अंकुरित तो होंगे लेकिन पीले-पीले हो जायेंगे, टी॰ बी॰ के मरीज जैसे/ उसमें खून नहीं रहता है, उसमें ओज नहीं रहता है, किन्तु वही बीज यदि खुले मैदान में बो दिया जाये, खाद पानी मिले, सूर्य प्रकाश भी मिले तो वह पीला नहीं हरा-भरा रहता है। और वह सूर्य की प्रखर किरणों से दावे के साथ कहता है मेरे पास अब वह हिम्मत है कि मैं तुम्हें सहन कर सकता हूँ। और तुम्हें पचाने के उपरान्त हमारा विकास ही होगा विनाश नहीं।

इसलिए जिस प्रकार पौधे को पुष्ट बनाने के लिए, हरा-भरा बनाने के लिए कठिनाइयों से गुजरने की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र को पुष्ट बनाने के लिए उपसर्ग और परीषहों से गुजरने की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान में विकास, ज्ञान में निखार एवं मजबूतपना चारित्र के माध्यम से आता है। आज तक ऐसा कोई भी जीव नहीं है जो उपसर्ग और परीषह को जीते बिना केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध परमेष्ठी

बन गया हो। महाराज भरत चक्रवर्ती को तो सिद्ध पद प्राप्त हुआ है। भैया ! ग्रन्थ खोलकर देखिये तो मालूम पड़ जायेगा कि मुनि बने बिना तो उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, पर हाँ ..... यह बात जरूर है कि उन्हें अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त हो गया लेकिन अल्पकाल होकर के भी -

'छट्ठा सत्ता छट्ठा सत्ता, सहस्रवार गुणस्थान परिवर्तित होता है'

यह आवश्यक है, आराधना के बिना संभव नही है, अल्पकाल हो या चिरकाल किन्तु आराधना के बिना आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं है।

संयम को धारण करके कोमल-कोमल काया वाला वह सुकमाल दीक्षित होकर जंगल में चला जाता है। ध्यान में एकाग्रचित होकर खड़े हो जाते हैं । किन्तु पूर्वजन्म के बैर से बंधी हुई उसकी भावज रास्ते में पड़े हुए खून के दाग सूँघती हुई उसी स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ पर मुनिराज सुकमाल स्वामी ध्यान मग्न थे। उनके असाता कर्म के तीव्रोदय से एवं स्वयं बैर के वशीभूत होकर उस स्यालिनी को क्रोध आ गया और वह झपट कर बच्चों सहित मुनिराज की काया को विदीर्ण करने लगी, खाने लगी, उसके साथ 'उसके छोटे-छोटे दो बच्चे' भी थे।

'एक स्यालनी जुग बच्चायुत पाँव भख्यो दुःखकारी।'

(समाधिमरण पाठ)

बड़ा वाला समाधिमरण पाठ है उसमें बहुत अच्छा विश्लेषण है उपसर्गों का और उन उपसर्गों को सहन करने वाले मुनियों के नाम भी दिए हैं। तो उस समय सुकमाल मुनि और उनके दोनों पैरों को वह स्यालिनी खाना प्रारंभ कर देती है। अभी-अभी उदाहरण दिया गया था कि उन महाराज जी को चीटियाँ काट रही थीं, वो महाराज जी तो हट्टे-कट्टे होंगे, लेकिन हमारे महाराज तो भैया ! ..... कमाल की बात है सुकमाल की बात है । और दूसरी बात यह है कि वहाँ पर चीटियाँ खाती थीं किन्तु यहाँ पर स्यालिनी खाती है, और वह भी "जुग बच्चा युत" तीसरी बात यह है कि वहाँ पर चीटियाँ घी खाती थीं और यहाँ पर घी नहीं खातीं, डॉयरेक्ट अन्दर जो माँसपेशियाँ हैं उन्हें अपना भोजन बना रही हैं। इस प्रकार तीन दिन तक अखंड उपसर्ग चला जो अपवर्ग का सोपान माना जाता है स्वर्ग का तो है ही । जिसके द्वारा स्वर्ग और मोक्ष के कपाट खोले जाते हैं।

..... धन्य है वह जीव जिसको सरसों का दाना चुभता था, सूर्य प्रकाश को भी सहन करने की क्षमता जिनकी आँखों में नहीं थी और जिसमें यह बल नहीं था कि वह मोटे-मोटे चावलों से बने भात को खा सके और उन्हें पचा सके। ..... और वही संहनन वही

काया सब कुछ वही, क्योंकि एक बार प्राप्त होने के उपरान्त जीवनपर्यन्त संहनन बदलता नहीं उसमें कोई चेंजिंग नहीं, कोई अन्तराल नहीं पड़ता है । लेकिन इस प्रकार की शक्ति सहन करने की क्षमता, यह अंतर कहाँ से आ गया, यह भीतरी अंतर है परिणामों की बदलाहट है। भीतरी गहराई में जब आत्मा उतर जाता है तब किसी प्रकार का बाहरी वातावरण उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता।

'आचार्य वीरसेन' स्वामी ने एक स्थान पर कहा है कि जब एक अनादिकालीन संसारी प्राणी मिथ्यात्व से ऊपर उठने की भूमिका बनाता हुआ उपशमकरण करना प्रारंभ करता है तो ध्यान रखो उस समय तीन लोक की कोई शक्ति उस पर प्रहार नहीं कर सकती। किसी भी प्रकार के उपसर्ग का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला। और उपसर्ग की स्थिति में भी उसकी मृत्यु तीन काल में संभव नहीं है। यह सब माहात्म्य आत्मा की विशुद्धि भीतरी परिणति का है। आत्मानुभूति के समय बाहर कुछ भी होने दीजिए, किन्तु अंदर बसंत बहार चलती रहती है। कुछ लोग काश्मीर जाते हैं, कुछ लोग धूप का चश्मा पहनते हैं, मान लीजिए किसी को यह साधन नहीं मिला तो हम कहते हैं कि भीतरी वस्तु का विचार करिए और शिखर के ऊपर जाकर बैठ जाइये, जेठ की तपती दुपहरी हो तो भी वहाँ पर काश्मीरी तलहटी से कम नहीं ... ! उससे भी अधिक बसंत बहार बहना प्रारम्भ हो जायेगी । यह धारणा का ही परिणाम है, आस्था/विश्वास का ही परिणाम है । जिस भावना का प्रभाव जब दूसरे पर पड़ सकता है, यहाँ तक कि जड़ पदार्थ पर भी पड़ सकता है, ... तो फिर क्या चेतन आत्मा के ऊपर प्रभाव नहीं पड़ सकता ? धन्य है वह एकत्व की भावना, वह भावना कैसी थी -

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइयो सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तं पि ।।

(समयसार / ३८)

धन्य है अंडरग्राउन्ड में रहने वाले आज चौपात पर हैं,शिलाओं पर हैं।आज स्यालिनी के द्वारा शरीर खाया जा रहा है,लेकिन वह भाग्यशाली भीतर से बाहर नहीं आता । देखा तक नहीं कि स्यालिनी कुछ कर रही है। यदि छठें गुण स्थान में आ भी जाते हैं तो कहते हैं कि तेरी खुराक तू खा ले, मेरी खुराक मैं खा रहा हूँ। धन्य हैं वे...क्या परिणाम हैं ? मैं सोच रहा हूँ कि आप तो उनसे अधिक बलवान हैं, उनको तो पसीना जल्दी आ जाता था, लेकिन आप तो...यहाँ पर डेढ़ घण्टा हो रहा है और ज्यों के त्यों बैठे हुए हो, आसन में फर्क नहीं आया, यह बात अलग है कि जगह नहीं मिलने से नहीं बदली है। परिणामों की विचित्रता है, अपने परिणामों को शरीर से पृथक कर आत्मा की ओर तो कम से कम कर लीजिए । आप प्रवचन सुनते हैं, भगवान का अभिषेक / पूजन करते हैं स्वाध्याय भी करते हैं लेकिन इसका धर्म

क्या ? इसका अर्थ क्या ? यह किस प्रकार के भावों से किया जाए ? यदि आप इस क्रिया को विशुद्धतापूर्वक संकल्प लेकर के करते हो तो असंख्यातगुणी निर्जरा एक सैकिण्ड में कर सकते हो। वह सम्यग्दृष्टि जीव आठ मूलगुणों का पालन कर सकता है बारह व्रतों को ग्रहण कर सकता है और आठ वर्ष की उम्र से लेकर पूर्व कोटि वर्ष तक पालन कर सकता है । इस प्रकार जीवनपर्यन्त निर्दोष व्रतों का पालन करते रहने से उस असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती तिर्यंच/मनुष्य की असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा प्रतिसमय होती रहती है। किन्तु समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों ने तो असंयत सम्यग्दृष्टि के लिए यही कहा है कि उसकी गुणश्रेणि निर्जरा तो सिर्फ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति काल में ही हुआ करती है, अन्य समय में नहीं । ..... सामान्य निर्जरा का होना अलग बात है ।

गणेशप्रसाद जी वर्णी कहा करते थे, देखो ! ध्यान रखो कोई असंयत सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती है और वह भी सामायिक कर रहा है, लेकिन उससे भी अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा एक मामूली तिर्यंच जो घासोपयोगी है उसकी हुआ करती है। बड़ा अच्छा शब्द प्रयोग किया है वीरसेन स्वामी ने "घासोपयोगी" सिर्फ घास खाने में जिसका उपयोग है। वह भी चक्रवर्ती से भी असंख्यात गुणी निर्जरा कर सकता है, यह किसका परिणाम है तो आचार्य कहते हैं कि यह देश संयम का परिणाम है, क्योंकि तिर्यंच देश संयम से ऊपर उठने की सामर्थ्य नहीं रखते हैं । सकल संयम पालन करने की योग्यता मनुष्य पर्याय में ही संभव है। सकल संयम धारण करने से क्या होगा ? .... तो जिस समय वह अणुव्रती सामायिक में बैठा है चाहे महान उपसर्ग को सहन करने वाला वह सुदर्शन सेठ क्यों न हो ? और एक मुनिराज या तो शयन कर रहे हैं या भोजन कर रहे हैं या फिर किसी शिष्य को डाँट रहे । तो भी उनकी उस सामायिक में लीन देशव्रती से असंख्यात गुणित निर्जरा होती है । मैं पूछना चाहता हूँ शयन के समय, भोजन के समय, शिष्य को डाँटते समय में भी असंख्यातगुणी निर्जरा ! ... हाँ भैया !! दुकान कौन सी है देख लो ।

जिस प्रकार कई वर्षों के उपरान्त भी जौहरी की दुकान में ग्राहक आ जाने से दोनों (ग्राहक और दुकानदार) मालामाल हो जाते हैं, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में भी / सामान्य दुकानदारों की तरह उस जौहरी की दुकान में उठक-बैठक नहीं हुआ करती है, ग्राहक के लिए भी बढ़िया गद्दी तकिया बैठने के लिए मिल जाती है, नौकर चाय-पान लाता है, बाद में अपना कीमती नग दिखाया जाता है, साइज में बहुत छोटा होता है, हाथ से उसे छूँ नहीं सकते ... केवल दूर से ही देख सकते हैं फिर भी उसकी कीमत क्या है ? ... एक लाख .... दो लाख .. तीन लाख इतनी अधिक होती है ... हाँ "हीरा मुख से कब कहे लाख हमारा मोल" बस उसके ऊपर जैसे - जैसे पहलू निकलते चले जाते हैं, वैसे-वैसे उसका मूल्य बढ़ता चला जाता है। जिस प्रकार पंखे की हवा में बैठे रहने वाले उन हीरे-जवाहरात के व्यापारियों के लिए ५

मिनिट में करोड़ों की आमदनी हो जाती है बिना पसीना बहाए, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में भी जैसे-जैसे एक-एक गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे विशुद्धि बढ़ने के कारण असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा बढ़ती जाती है । प्रशस्त पुण्य प्रकृतियों का बंध होता जाता है, परिश्रम कम होता जाता है एवं लाभ अधिक बढ़ता जाता है।

इसी प्रकार से एक-एक लब्धिस्थान बढ़ाते हुए मुनिराज सुकमाल स्वामी कायोत्सर्ग में लीन थे। काय क्लेश तप भी एक महान तप माना गया है, किन्तु उन आत्मध्यानियों के लिए क्या काय - क्लेश, उनका तो आत्मचिंतन चल रहा था, बाहर क्या हो रहा हैं पता भी नहीं था। बुंदेलखण्डी भाषा में काय अर्थात् क्या है क्लेश, तो कुछ भी नहीं है। क्लेश तो अंडरग्राउन्ड में था यहाँ आने पर अब कुछ भी नहीं है। आप आगम के हर पहलुओं पर चिंतन करके देखेंगे तो ज्ञात होगा कि जो अभ्यन्तर तप के अलावा कायक्लेश आदि बाह्य तप है वह भी कर्म-निर्जरा कराने में कारण है। वह प्रवृत्ति, वह बाह्य तप भी शुभोपयोगात्मक है जो शुभोपयोग बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा कराता है और परम्परा से मोक्ष का कारण है किन्तु साक्षात् कारण तो शुद्धोपयोग ही है, लेकिन यह बात भी ध्यान रखना उस शुद्धोपयोग का उपादान कारण तो शुभोपयोग ही है। सम्यग्दृष्टि साधक की जो कार्यक्लेश के माध्यम से निर्जरा होती है उसे वह क्लेश के रूप में नहीं देखता। छहढाला की वे पंक्तियाँ याद करने योग्य हैं उन्हें पुनः ताजा कर लीजिए -

'आतम हित हेतु विरागज्ञान ते लखें आपको कष्टदान' (छहढाला / दूसरी ढाल)

जो मिथ्यादृष्टि हैं जिसकी बाहरी दृष्टि है वह वीतराग विज्ञान को क्लेश की दृष्टि से देखा करता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु प्राणी निर्जरा तत्त्व की ओर देखता है। तब कहीं जाकर उसकी आमदनी ज्यादा होने लगती है। बंधुओ ! अब आप लोगों को भी इस प्रकार की दुकान खोलना चाहिये। जिसमें आराम के साथ बैठे-बैठे काम कम करना पड़े और माला-माल हो जाए किन्तु आप लोग तो तेल, नोन, लकड़ी रखने वाले किराने की दुकान वाले हैं, जिसमें कालीमिर्च धनिया, जीरा बेंचते रहते हैं। पाँच-पाँच पैसे के लिए बार-बार उठते-बैठते रहते हैं, कोई ग्राहक आता है, मान लो आपकी उम्र से बहुत कम उम्र वाला एक छोटा सा लड़का आया है पाँच पैसे लेकर, वह कहता है एक पैसे का तो गुड़ दे दो और एक पैसे का कुछ और दे दो ... बाकी पैसे वापिस कर दो । तो उसमें भी आप उठक-बैठक करेंगे, दस बार हाथ धोयेंगे और वह भी ठंड के समय पौष माह में (श्रोता समुदाय में हँसी) भले ही हाथ ठिठुर जाए और उसे ठीक करने में पैसे खर्च हो जायें , यह स्थिति आप लोगों की है, फिर भी कहते हैं हमारी दुकान बहुत चलती है, खूब ग्राहक आते हैं, किन्तु .... नहीं, आपकी दुकान से सेठ-साहूकार बनना मुश्किल है, आपकी दुकान में डेढ़ गुनी हानि -वृद्धि का क्रम चलता रहता है। वह क्रम तो ऐसा होता है कि जैसा का तैसा ही रहता है उसमें वृद्धि नहीं होती तो इस

प्रकार की हीन विशुद्धि वाले व्यापारियों को केवलज्ञान तीन काल में हो ही नहीं सकता, इसलिए संयम यह कहता है कि एक सैकिण्ड में करोड़ों की आमदनी।

इसको कहते हैं वीतराग विज्ञान का फल जो सुकमाल स्वामी को प्राप्त हुआ, उनके द्वारा मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए एक आकस्मिक प्रयोग किया गया, जो सफल हुआ। जिसे प्राप्त करने उनकी एक धारणा थी, भावना थी, यह एक साधना का ही परिणाम था जो उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया । और ऐसे महान उपसर्ग को जीतकर उन्होंने सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया एवं आत्म समय में ही मोक्ष सुख प्राप्त करेंगे। इसी प्रकार की साधना एवं लक्ष्य बनाकर मंजिल की प्राप्ति के लिए कम से कम समय में विशेष कार्य करें। ज्ञान को साधना के रूप में ढालकर अध्यात्म को अपने जीवन में लाने का प्रयास करें। उसी परम आल्हादकारी अध्यात्म को आत्मसात करें। तब कहीं जाकर आपका सुकमाल जैसा कमाल का काम हो सकता है।

... सुकमाल स्वामी की यह कथा बार-बार अपने चिंतन में लाओ, क्योंकि आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि भैया ! शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं तो बहुत जल्दी चौपट हो जाता है। इसलिए उसको स्थिर बनाने के लिए प्रथमानुयोग का अध्ययन करना जरूरी है।

प्रथमानुयोग का स्वरूप आचार्य समन्तभद्र जी ने 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में बताते हुए कहा है .....

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः ।।

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार/ ४३)

महापुरुष की कथा, शलाका पुरुषों की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता, समाधि निधि का है दाता।
वही रहा 'प्रथमानुयोग' है परम -पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि तारक है

(रयण मंजूषा)

एक पुरुष के कथानक को चरित्र कहते हैं। अनेक पुरुषों के कथानकों के वर्णन करने को पुराण कहते हैं। जो आज तक नहीं प्राप्त हुए ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति को बोधि कहते हैं और प्राप्त हुए रत्नत्रय की भलीभाँति रक्षा करते हुए उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने को समाधि कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान भी समाधि कहलाते हैं। इस प्रकार पुण्यवर्धक चरित्र और पुराणों को तथा धर्मवर्धक बोधि-समाधि के वर्णन करने वाले शास्त्रों को प्रथमानुयोग कहते हैं।

प्रथमानुयोग ग्रन्थों का अध्ययन जो कि बोधि-समाधि के निधान हैं, ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि में सहायक होता है, ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि आत्मोपलब्धि में सहायक है। अतः आत्मोपलब्धि के इच्छुक मुमुक्षुओं को प्रथमानुयोग का अध्ययन करना चाहिए।

❑ ❑ ❑

भगवान महावीर स्वामी की जय

गहन गहराइयाँ ....

....श्रुत ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है। किन्तु आत्म स्वभाव पाने के लिए श्रुतज्ञान आवश्यक है।

.... श्रुतज्ञान होने के उपरान्त ध्यानरूपी बोध के द्वारा उस ज्ञान को ऊपर की ओर ले जाया जाता है। जिसके लिए महान संयम साधना की आवश्यकता पड़ती है। अव्रती के वश का यह काम नहीं है।

....श्रुत की सार्थकता तो तभी मानी जायेगी जब हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त कर, हेय से बचने एवं उपादेय को ग्रहण करने का प्रयास करेगा।

अक्षय तृतीया से जो यह मंगल कार्य प्रारंभ हुआ था इस मंगलमय श्रुत पंचमी के अवसर पर सानन्द सम्पन्न हुआ। आत्मा के पास एक ऐसा धन है जिस धन के माध्यम से आत्मा धनी कहलाता है और वह धन जब जघन्य अवस्था का अनुभव करने लग जाता है तो वह आत्मा दरिद्र हो जाता है। इन आगम ग्रन्थों की वाचना के समय पर निगोदिया जीवों का प्ररूपण आया था और उस निगोदिया जीव का प्ररूपण करते हुए बताया गया उसे सुनकर ऐसा लग रहा था कि आत्मा का यह पतन अन्तिम छोर को छू रहा है। किन्तु सावधान! दरिद्रता का अर्थ क्या होता है? धन का पूर्ण अभाव नहीं, किन्तु धन की न्यूनता, बहुत कमी लेकिन बहुत कमी कह करके भी हम उसको अभाव नहीं कह सकते। एक पैसा भी पैसा है और वह पैसा एक रुपये का अंश है, एक-एक पैसा निकालते चले जाइये आप, रुपये का कोई भी अस्तित्व नहीं है, ज्ञान का पतन हुआ लेकिन ध्यान रखें उसका अभाव नहीं हो सकता। यह सही धन है, इस धन का जब हम संरक्षण करते हैं और संरक्षण ही नहीं संवर्धन करते हैं तो आत्मा की ख्याति बढ़ती चली जाती है।

आत्मा प्रकाश में आ जाता और आत्मा ऐसे प्रकाश में आ जाता कि विश्व को भी वह प्रकाशित कर देता है। "श्रुत पंचमी" पर कम समय में भी अपने चिन्तन के माध्यम से कई लोगों ने अपनी बात रखी। स्पर्श इन्द्रिय का विषय आठ प्रकार का, रसना इंद्रिय का पाँच प्रकार का रस, घ्राण इन्द्रियों का विषय दो प्रकार की गंध, चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप पाँच

प्रकार। श्रोत्र इंद्रिय का विषय है शब्द। पाँच इंद्रियाँ है हमारे पास, शब्द को सुनने के लिए कर्ण आवश्यक है लेकिन यह ध्यान रखिये सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए जब पंडित जी (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, बनारस) वाचना कर रहे थे प्रातःकाल की बात है, और जय धवलाकार ने बहुत अच्छे ढंग से कहा पाँच इन्द्रियों का होना आवश्यक है लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है।

शब्द को सुनने के लिए कान मिल गया तो पर्याप्त हो गया, नहीं ! किन्तु संज्ञी होना आवश्यक है जो कोई उपदेश देते हैं यह तो असंज्ञी पंचेन्द्रिय भी अपने कानों के द्वारा ग्रहण कर सकता है किन्तु शब्द अलग वस्तु है और तद्विषयक जानकारी अलग वस्तु है। श्रुत यह मन का विषय है, और मन का विषय शब्द नहीं हुआ करता है यह ध्यान रखना कान से शब्द सुने ज़ा सकते हैं किन्तु ध्यान किसके द्वारा होता है ? मन के द्वारा। तो मन लगाकर के यदि इन शब्दों को हम सुन लेते हैं तब कहीं जाकर के आचार्यों के भाव हमारे साथ और आत्मा के साथ हो सकते हैं अन्यथा नहीं, पुरुषार्थ इतना आपेक्षित है। केवल वक्ता अपनी बात को रखता और वह श्रोता सारा का सारा पीता चला जाता तो आज तक इन सभी का कल्याण हो जाता।

श्रुत शब्दात्मक नहीं हुआ करता। यहाँ अभी-अभी कई लोगों ने कहा यह वाचना जो हुई है, पण्डितों ने कितने अच्छे ढंग से इसकी वाचना की है। यह सारा का सारा शब्द ही तो है, नहीं तो कानों से सुनने में आ जाता। शब्द पढ़ने में नहीं आ सकते यहाँ पर शब्द संयोजना नहीं है केवल उन शब्दों के संकेत हैं और ये संकेत सारे अर्थ को लेकर के हैं।

अरहंत भासियत्थं गणहर देवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्ति जुत्तो सुदणाण महोवहिं सिरसा।"

अरंहत के द्वारा अर्थ रूप श्रुत का व्याख्यान हुआ है और उसे गणधर देव ने गूंथकर ग्रन्थ का रूप दिया क्योंकि अर्थ हमेशा अनंतात्मक होता है,और अनंत को हम ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखते और उस अनंत को हम सुन नहीं सकते, शब्द को सुन सकते हैं शब्द इस अनंत अर्थ को अभिव्यक्त करने में सहायक हो जाता है उस अर्थ का संकेत इसमें किया गया है। कितनी छोटी सी किताब है ? बहुत छोटी सी किताब है लेकिन इसके अर्थ की ओर जब देखते हैं तो लोक और अलोक दोनों में जाकर हमारा ज्ञान छोर को छूने के लिये मचलता रहे। वह छोर ज्ञेय की छोर "ज्ञेयार्णवान्तर्गताः".....ज्ञेय रूपी महान सागर जिसके ज्ञान में अवतरित हो जाता है, झलक जाता है।

उस ज्ञान की महिमा अपरम्पार है, उस अर्थ के लिये यह सब संकेत दिये गये हैं, इन संकेतों को सचेत होकर यदि हम पकड़ लेते हैं तो ठीक है अन्यथा नहीं। जिसका मन इन संकेतों को पकड़ने के लिये हो गया है किन्तु वह यदि मूर्छित है अथवा यूँ कहना चाहिये

पंचेन्द्रिय के विषयों से प्रभावित हुआ है तो इन संकेतों को पकड़ करके भी वह भावों में अवगाहित नहीं हो सकता । अन्तर्मुहूर्त के भीतर वह जो सवार्थसिद्धि के देव हैं उन्हें भी सुख का अनुभव नहीं हो सकता, उससे बढ़ करके सुख का अनुभव एक संज्ञी पंचेन्द्रिय यहाँ पर बैठा हुआ संयत जो है, अनुभव कर रहा है अथवा श्रावक जो है संयमासंयम का अनुभव कर रहा है अथवा त्याग तपस्या की ओर बढ़ते हुए चरण जो कि स्वार्थसिद्धि को भी पीछे रख रहे हैं, ऐसा क्यों हो रहा है? इन संकेतों के माध्यम से हमारी गति बाहर नहीं होती किन्तु वह यूँ (हाथ का इशारा) आ जाती है।

देखो सूर्य प्रकाश देता है, प्रकाश से कार्य होता है लेकिन यह ध्यान रखना प्रकाश से तो कार्य होता है लेकिन सूर्य के प्रकाश देने मात्र से हमारा कार्य पूर्ण नहीं होता। प्रातःकालीन सूर्य प्रकाश तो देता है लेकिन तपता नहीं है। तपना भी आवश्यक होता है वह कब तपता है, जब उदयाचल को छोड़े तब तप सकता है। हमारी वृत्ति श्रुत के अभाव में क्या हो रही है, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकालीन किरणों को फेंक देता है पृथ्वी की ओर उस समय हम उसके सामने खड़े हो जाते हैं तो उसके विपरीत दिशा में बहुत लम्बी-चौड़ी छाया, हमारी पड़ती है और जब वह अस्ताचल की ओर चला जाता है उस समय में भी पूर्व दिशा की ओर हमारी लम्बी-चौड़ी छाया फैल जाती है, यह दशा हमारी श्रुत के अभाव में हो रही है और जिस समय श्रुत का आधार यह आत्मा ले लेता है उस समय क्या स्थिति आ जाती है। मध्यान्ह के समय की बात देखो मध्यान्ह में हमारी छाया कहाँ पर होती है, होती भी है या नहीं ? होती तो है लेकिन मध्यान्ह में दूसरे पदार्थों की पूजा नहीं करती किन्तु हमारे चरणों की आरती उतारती है, पूजन करती है। जिस समय हमारी छाया हमारे चरणों की पूजा करेगी उस समय समझ लेना हम मध्य में रहेंगे मध्यस्थ होकर के रहेंगे, उस समय हमारी आँखे काम नहीं करती क्योंकि इतनी तेज धूप रहती है और पंडितजी (पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर) बार-बार कहा करते हैं महाराज ! हम इसको बोलते है ततूरी। ततूरी का अर्थ बहुत अच्छा बताया था। मुझे क्या मालूम था कि ततूरी का अर्थ इतना गंभीर है। तप्ता ... उर्वी.... ततूरी । जिस समय उर्वी अर्थात् पृथ्वी तप जाती है, आकाशमंडल सब तप जाते हैं, उस समय ततूरी होती है। ततूरी होती है तो आप क्या करते हैं ? अपने पास एक गमछा रखते हैं। गमछा के द्वारा क्या करते हैं ? सिर पर उस गमछे को कान के ऊपर से लाकर के यूँ (हाथ का इशारा) बाँध लेते हैं ताकि बाहरी आवाज सुनना बंद हो जाये । भीतरी आवाज को अब सुनो ।

बाहरी आवाज बंद हो गयी, भीतर का संगीत प्रारंभ हुआ और उस समय यदि कान ठण्डे रह जाते हैं तो आप किसी भी रोग से घिरेंगे नहीं, नहीं तो लू लग जायेगी, इधर-उधर की बातें सुनोगे तो लू लग जायेगी और केवल जिनवाणी का श्रवण करोगे तो फिर

कहना ही क्या बड़े आनंद का अनुभव करोगे। मध्यान्ह हमारे जीवन के लिये कल्याणकारी है। किसान लोग आज बहुत शान्ति का अनुभव कर रहे हैं, क्यों कर रहें हैं? इसलिये शान्ति का अनुभव कर रहे हैं कि अब मृगशीतला आ गयी है और कुछ ही दिन के उपरान्त वर्षा होगी तो बीज बोयेंगे फिर कुछ ही दिनों में अंकुरित होकर के फसल लहलहाएगी। यदि धरती तपेगी नहीं तो उसकी कभी भी कीमत नहीं है। तपी हुई धरती में बीज समय पर वर्षा के काल में बोये जाते हैं तो शीघ्र ही अंकुरित हो करके फसल आ जाती है, लहलहाती है और उस समय किसानों के साफा भी ध्वजा के समान लहलहाते हैं। उसी प्रकार जब तक श्रुत के माध्यम से हम अपने आप को नहीं तपायेंगे तब तक उस अनंत केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने वाली। हम केवल बाल भानु की किरणों को देखने के लिये (सूर्य को) देखते हैं, या तो सनराइज (सूर्योदय) को देखते हैं, हमें मालूम नहीं पड़ता वो लोग क्या अनुभव करना चाहते हैं । उनमें से सही पूछा जाये सनसेट (सूर्यास्त) को छोड़ दो और सनराइज को भी छोड़ दो किन्तु सनलाइट को देखो, देखा नहीं जाता महाराज,इसलिये गोगल (चश्मा) लगा लो और देखो वह क्या कहना चाह रहा है। जिस समय वह श्रुत-आत्मस्थ हो जायेगा तो नियम से उस श्रुत से क्या होगा ? ....विश्रुत होगा। श्रुत का अर्थ तो बता दिया गया, अब .... विश्रुत का क्या अर्थ है? विश्रुत का अर्थ है ख्याति । तीन लोक में उसकी ख्याति फैल जायेगी । अभी तक मुहल्ले में ख्याति फैलती थी, या तो आस-पड़ौस में, ज्यादा से ज्यादा हो तो गाँव में फैल जाये, जिले में फैल जाये, राष्ट्र में फैल जाये लेकिन तीन लोक में किसी की ख्याति नहीं फैलती, तीन लोक में उसी की ही ख्याति फैलती है जो संपूर्ण श्रुत को पीकर के विश्रुत हो गया। श्रुत को गौण करके ऊपर उठ गये विश्रुत अर्थात् श्रुताभाव और विश्रुत का अर्थ प्रसिद्धि भी है। सबसे ज्यादा प्रसिद्धि तीन लोक में उन्हीं की होती है जिन को आप बोलते हैं विश्रुत अर्थात् श्रुत से ऊपर उठे हुए हैं । श्रुतज्ञान भी आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु आत्म स्वभाव पाने के लिये श्रुतज्ञान कारण है और उस श्रुत के माध्यम से जो अपने आपको तपाता है और ऐसा तपाता है कि बस श्रुतज्ञान नीचे रहकर के वह जो ज्ञान था वह ज्ञान केवल "ज्ञान" रह जाता है। श्रुतज्ञान आवरणी ज्ञान है अर्थात् आवरण में से झाँकता हुआ वो सूर्य है जो बादलों की घटाओं से झाँक रहा है।

जब मेघ घटाओं का पूर्ण अभाव हो जायेगा तो सूर्य अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ बाहर दिखने लगेगा। उस तपे हुए सूर्य पिंड से सारी धरती को प्रकाश मिलेगा, और सुख-शान्ति छा जायेगी किसानों के हृदय में । इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का जब पूर्ण क्षय होगा तब नियम से आत्मा में एक नई दशा उत्पन्न होगी, इसी दशा को प्राप्त करने के लिये यह श्रुत है, और वह केवल मन का विषय है।

"श्रुतमनिन्द्रियस्य" ..... हमारे पास पाँच इंद्रियाँ हैं और मन एक है लेकिन वह

इंद्रिय नहीं है,वह श्रुत का अंग है, उपांग है,उसको अनंग बोलते हैं, वो अंतरंग है भीतर रहता है उसके पास अंग नहीं हैं किन्तु अंग के भीतर अंतरंग होता है और उस अंतरंग के द्वारा ही सब कुछ कार्य होने वाला है। यदि अंतरंग विकृत होगा और केवल बहिरंग साफ सुथरा होगा तो उसके द्वारा काम ठीक नहीं होगा। भीतरी अंतरंग जिसका शुद्ध होगा वह सारा का सारा श्रुत पी लेगा। आचार्यों ने कहा है, जिसका अंतरंग ठीक-ठीक हो गया है उसके लिये श्रुत अंतर्मुहूर्त में पूरा का पूरा प्राप्त हो जाता है और अंतर्मुहूर्त के भीतर ही भीतर उसे नियम से कैवल्य की उपलब्धि हो सकती है।

वर्तमान में श्रुत ज्ञान जो कुछ भी आप लोगों को उपलब्ध है इससे अब आगे बढ़ने वाला नहीं है। इसमें विकास संभव नहीं है। क्योंकि अवसर्पिणी काल होने से वह धीरे-धीरे घटता चला जा रहा है,और वह समय आया धरसेन आचार्य के जीवन काल में जो कि वह एक-एक अंग का भी पूर्ण ज्ञान नहीं था फिर आज उसका शतांश क्या सहस्त्रांश भी नहीं रहा आज सुबह पढ़ लेते हैं, शाम को पूछो तो उसमें से एक कड़ी (पंक्ति) हम ज्यों का त्यों नहीं बता सकते। थोड़ा सा मन इधर-उधर चला गया, उपयोग फिसल गया तो कहाँ से कहाँ चले जाते हैं। संज्ञी में से असंज्ञी मार्गणा में चले जाते हैं या असंज्ञी से संज्ञी मार्गणा में चले जाते हैं। क्या विषय चल रहा था पता तक नहीं पड़ता। पूर्व आचार्यों केउपयोग की स्थिरता उनका श्रुत के प्रति बहुमान आदि देखते हैं, तो उनमें से हमारे पास एक छोटा सा कण भी शेष नहीं रहा किन्तु भाव भक्ति श्रद्धा ही एकमात्र हमारे पास साधन है और यह श्रद्धा विश्वास नियम से वहीं तक ले जायेगा जहाँ तक पूर्व आचार्य गये हैं। उनके पास तक हम भी जा सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं किन्तु हम श्रुत को विश्रुत बना करके आत्मा में लीन हो जायें जिसके लिए यह साधन है उस साध्य के लिए ही यह सब कुछ है। एक स्थान पर आचार्य कुंदकुंद देव ने समयसार में कहा है :-

सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति।।

(समयसार / ३६१)

शब्द ज्ञान नहीं क्योंकि शब्द कुछ भी नहीं जानता इसलिए ज्ञान भिन्न है शब्द भिन्न है इस प्रकार भगवान का कथन है। इन संकेतों के माध्यम से हम भीतरी ज्ञान को पहिचान लेते हैं तो इस श्रुत को भी हम ज्ञान कह सकते हैं अन्यथा यह केवल कागज है। भारतीय मुद्रा को लेकर जिस प्रकार अन्यत्र चले जायेंगे तो वहाँ पर कोई कार्यकारी नहीं, वहाँ की मुद्रा को लेना आवश्यक है, वहाँ का व्यक्ति यहाँ पर आ जाता है तो यहाँ की मुद्रा उसे खरीदने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यदि हम श्रुत का भिन्न क्षेत्र में उपयोग लेते हैं तो इसका कोई भी मूल्य नहीं है। यदि स्वक्षेत्र में काम लेते हैं तो उसे केवलज्ञान होने में मात्र अंतर्मुहूर्त की

देरी लगती है। श्रुत को पीते चले जाओ जब तक पेट नहीं भरता, डकार जब तक नहीं आती तब तक इधर-उधर देखो नहीं। हम लोग जो कोई भी कार्य करते हैं वह शिथिलता के साथ और अस्थिरता के साथ करते हैं। पूजन के लिए बैठ जाते हैं तो स्तुति याद आ जाती है, स्तुति के लिए बैठते हैं तो जाप याद आ जाती है, जाप के लिए बैठते हैं तो स्वाध्याय के लिए ग्रंथ सामने आ जाते हैं, ग्रंथ आते ही हमें तो महाराज जी को पड़गाहन करना है, और पड़गाहन से महाराज जी आ भी गये तो बड़े महाराज कहाँ गये? हमारी मन की यात्रा कैसी -कैसी चलती है। उन व्यक्तियों के लिए हमारा कहना भैया ! आचार्यों ने जो आवश्यक बताये हैं उसको यदि मनोयोगपूर्वक शांति के साथ करोगे तो सारा का सारा फल मिल जायेगा इसलिए कहा है :-

"विधि द्रव्यदातृपात्र विशेषात्तद्विशेषः"

(तत्त्वार्थसूत्र / अध्याय ७ / सूत्र ३६)

कोई भी क्रिया करो विधि के अनुसार करो। कोई भी क्रिया करो दाता और पात्र को देखकर करो, द्रव्य किसके लिए किस रूप में देना चाहिए। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर करने से ही क्रिया फलवती होती है। किसी को दवाई में गोली दे दी वैद्य जी ने कहा सुबह शाम लेते जाओ पेट ठीक हो जायेगा। २० गोली थीं उसने पूछा नहीं वैद्यजी से कि एक बार में कितनी लेना है। एक ही दिन में उसने इकट्ठी बीस गोली ले लीं। गर्मी ज्यादा हो गई, बर्दाश्त नहीं हुई, २० दिन की खुराक एक दिन में ले लें तो क्या होगा ? सहन नही कर सका और आँखें जलने लगी भूख-भूख कहने लगा। भूख क्यों लगी, गोली खाने से लगी अरे भैया ! अब तो पेट भी गड़बड़ होने लगा। आस्था बिगड़ गई, अनुपात चाहिए। स्वाध्याय करो कहने से प्रायः ऐसा ही होता है इसलिए संभव है, अष्टमी, चतुर्दशी के दिन वीरसेन भगवान ने पढ़ने का निषेध किया है। लेकिन हम लोग क्या करते हैं उस व्यक्ति के समान गोली एक दिन में ही खा लेते हैं। एक वर्ष में जो स्वाध्याय करना चाहिए। उसे एक माह में कर लेते हैं। रात-दिन एक कर लो किन्तु ऐसा नही होना चाहिये। उसके प्रति बहुमान, उसके प्रति विनय, उसके लिए कुछ काल आपेक्षित है। कोई भी एक वस्तु को ग्रहण करते हैं तो उसके बाद ग्रहीत वस्तु का चिंतन करना आवश्यक होता है। फिर धारणा बनाओ और आगे बढ़ो। हम यह नहीं करते हुए बंदर के समान मुख भर लेते हैं, जबकि बंदर इसलिए भर लेता है कि आप लोग ले न लें। एकांत में जाकर उसको निकाल कर खा लेता है और आप लोग क्या करते हैं, कल और सुन लेंगे, क्या बात हो गई उसका कुछ भी पाचन नहीं होता। श्रुत हमारे लिए बहुत बड़ा साधन है। श्रुतज्ञान के बिना आज तक किसी को न मुक्ति मिली और न आगे मिलेगी। अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान का मोक्षमार्ग में कोई महत्व नहीं है किन्तु श्रुतज्ञान का मोक्षमार्ग में महत्त्व है,

केवलज्ञान इसका फल है। यह साधन है तो नियम से फल मिल जाता है और यदि इसका (श्रुत का) अन्यत्र काम लेते हैं तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। हमें श्रुत के माध्यम से आजीविका नहीं चलाना है इसे व्यापार का साधन नहीं बनाना है क्योंकि यह पवित्र जिनवाणी है 'वीर हिमाचल' से निकली हुई है। किसी रागी द्वेषी की यह वाणी नहीं है। अतः इसका दुरुपयोग न कर सदुपयोग करना चाहिए। प्राप्त जो श्रुत है उसके माध्यम से स्व-पर कल्याण करना चाहिए। श्रुत का फल बतलाते हुए परीक्षामुख में आचार्य माणिक्यनन्दी जी कहते हैं कि -

"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्चफलं"

(परीक्षामुख । अध्याय ५। सूत्र १)

श्रुत की सार्थकता तो तभी मानी जायेगी जब हमारे अन्दर बैठा हुआ मोह रूपी अज्ञानान्धकार समाप्त हो जायेगा और हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त करके हेय से बचने का प्रयास करेगा और उपादेय वस्तु को ग्रहण करेगा, अर्थात् चारित्र की ओर अपने कदम बढ़ायेगा। भले ही ज्ञान अल्प हो, उसकी चिन्ता नहीं करना बंधुओ ! क्योंकि यह पंचमकाल है इसमें नियम से ज्ञान में, आयु में, शरीर और अच्छी सामग्रियों में ह्रास होता जायेगा यह अवसर्पिणी काल है अतः अपने अल्पश्रुत (क्षयोपशमावस्था) की ओर ध्यान न देकर आगे बढ़ने का प्रयास कीजिए। महावीर भगवान और कुन्दकुन्द के समान तो किसी का ज्ञान है नहीं, किन्तु भगवान महावीर जैसा ज्ञान प्राप्त करने के लिए यानी श्रुतज्ञान को केवलज्ञान में परिणत करने के लिए हमें संयमित होकर के सदा गति करते रहना है और यदि इस प्रकार की हमारी गति हो जायेगी तो हमारी प्रगति, हमारी उन्नति होने में देर नहीं। हमारा यह अल्पज्ञान भी एक अन्तर्मुहूर्त में अनंत में परिणत हो सकता है।

जिस प्रकार नदी छोटी होकर के भी समुद्र की ओर चूँकि उसकी दिशा है इसलिए वह नदी नियम से एक दिन सागर का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार जिसकी दृष्टि मुक्ति की ओर हो गयी है उसका भी एक दिन ऐसा आयेगा कि वह केवलज्ञान रूपी महान सागर में समा जायेगा। यही एकमात्र उद्देश्य रहना चाहिए, सम्यक् श्रुतज्ञान से आपूरित हर आत्मा का। इसी भाव को मैंने एक कविता में बाँधा है।

धरती से फूट रहा है
नव-जात है
और पौधा
धरती से पूछ रहा है
कि
यह आसमान को कब छूएगा

छू ..... सकेगा क्या नहीं ?
तूने पकड़ा है।
गोद में ले रखा है इसे
छोड़ दे .....।
इसका विकास रुका है
ओ ! ..... माँ .....।
माँ की मुस्कान बोलती है
भावना फलीभूत हो बेटा .....।
आस पूरी हो।
किन्तु
आसमान को छूना
आसान नहीं है
मेरे अन्दर उतर कर
जब छूएगा
गहन - गहराइयाँ
तब .... कहीं .... संभव हो .....
आसमान को छूना
आसान नहीं है .....। (डूबो मत लगाओ डुबकी)

क्या कहती है धरती ? धरती यह कह रही है कि तू आसमान में चढ़ना चाहता है, भावना बहुत अच्छी है और मैं भी यही चाहती हूँ तू आसमान में जा, ऐसा जा तुझे देखकर के जो पतित व्यक्ति हैं वह भी एक बार मन में विचारलीन हो जायें। हाँ ..... हाँ ... जीवन इतना उन्नत हो सकता है, लेकिन बेटा यह सब बातें मात्र जमा खर्च के रूप में नहीं होना चाहिए। यह यात्रा उस पौधे की तभी संभव है जब वह पौधा गहन - गहराईयों में उतरेगा, अंकुर बीज के रूप में रहता है, वह बल, वह शक्ति अकुंर के रूप में आ जाती है। वह ध्यान रखना विकास दोनों ओर से चलता रहता है। इधर अंकुर के रूप में आ गयी वह बीज की शक्ति, और ऊपर आ गया, उससे भले आधा होकर वह पौधा नीचे की ओर गया, मुस्कान के साथ, माँ कहती है बेटा तू धरती को कभी नही छोड़ना, धरती को छोड़ना चाहता है किन्तु धरती को न छोड़ते हुए आसमान में जाना और आसमान में जाना तभी संभव है जब धरती के भीतर जो कठोरता है उसको भी फोड़कर, भेदकर तुझे नीचे जाना है इसलिए माँ, धरती के साथ संबंध एकता का होगा। ध्यान रखना ऊपर हवा के द्वारा यूँ यूँ (हिलते हुए हाथ का इशारा) पेड़ कर रहा है लेकिन जड़ में किसी प्रकार का स्पंदन संभव नहीं। जड़ में यदि ऊपर

जैसा स्पंदन होने लग जाय तो फिर शीर्षासन जैसा लग जायेगा। शीर्षासन का मतलब ऊपर का नीचे, नीचे का ऊपर हो जाना। मजबूती के साथ रहना सीखो।

सर्कस दिखाने वाले क्या करते हैं ? सारे के सारे अंग को हिलायेंगे भिन्न-भिन्न प्रकार के एक्शन करेंगे लेकिन पैर उनके मजबूत रहते हैं, उसी प्रकार वृक्ष की जड़ें बहुत मजबूत रहती हैं। जब कभी भी पेड़ गिर जाता है, झंझावात, तूफान में तब दूसरे दिन जाकर के देखो ऊपर के साथ-साथ भीतर क्या-क्या आयाम चल रहा था। उस वृक्ष की कैसी-कैसी छोटी बड़ी जड़ें कठिन-कठिन पत्थर को भी काट करके भीतर जाने की कोशिश करती थीं, और भीतर से ही आहार पानी का प्रबंध करती थीं, किंतु धरती से ज्यों ही ढिलाई हो गयी त्यों ही सारा का सारा खेल समाप्त हो गया। पेड़ धरती से संबंध छोड़कर उखड़ गया, जीवन बर्बाद कर लिया।

बंधुओ ! जीवन जब तक रहे तब तक जिनवाणी माता को कभी मत भूलो और जिनवाणी माँ को भूलकर अन्यत्र कहीं चले जाओगे तो तुम्हारी भी वही दशा होगी पैर ऊपर होंगे और नीचे सिर होगा। शीर्ष आसन लगाना पड़ेगा।

हम उन्नति चाहते हैं लेकिन उन्नति किस रूप में होनी चाहिए ? किसको उन्नति कहते हैं? यह ख्याल में नहीं है। वह क्या कहता है पौधा ? मुझे छोड़ दो, तो धरती कहती है, मैं कैसे छोड़ूँ तेरी नादानी बहुत है। तुझे छोड़ दूँ अर्थात् जमीन में दरार पड़ जाये तो तू कहाँ चला जायेगा, क्या आसमान को देख सकेगा ? पाताल को ही देख सकेगा, और तुम्हारा जीवन समाप्त हो जायेगा।

श्रुत को आधार बनाकर चलो और श्रुत के द्वारा वहाँ तक जाना है, कहाँ तक ? जहाँ तक महावीर भगवान पहुँचे हैं। बारहवें गुण स्थान के अंतिम समय तक उस श्रुत का आधार वह साधक लेता है और हम लोग थोड़ा सा कुछ आने लगा तो अहंकार करने लग जाते हैं। वह माँ कहती है तू नादान है, आप श्रुत का आदर किया करो, किस रूप में करो, तो जिस रूप में बताया गया है उसी रूप में करना आवश्यक है। केवल बाहरी श्रुत का आदर, आदर नहीं है। आचार्यों ने कहा है ज्ञान का फल क्या है ? ज्ञान का प्रयोजन क्या है ? ज्ञान का प्रयोजन ध्यान है, ध्यान का प्रयोजन केवल ज्ञान है। सुख है, शान्ति है।

हमारे श्रुत में यदि अस्थिरता होगी तो ध्यान रखना तीन काल में भी हमारी यात्रा ऊर्ध्वगति के रूप में नहीं होगी। श्रुत का आधार लो और उन्नति को अपनाते चले जाओ। कहाँ तक अपनाते चले जाओ, जहाँ तक श्रुत की पूर्णता / पूर्ति नहीं होती । जैसे-जैसे ऊपर चले जाओगे वैसे - वैसे देखने में आयेगा वह आसमान बहुत-बहुत विशाल - कितना ? जिसकी कोई थाह नहीं। श्रुत के द्वारा कभी भी थाह नहीं पकड़ सकते हैं।

श्रुत के माध्यम से ऊपर-ऊपर बढ़ते चले जाओ एक सीमा आयेगी उसके उपरान्त केवलज्ञान हो जायेगा, निरावरण ज्ञान ही उस आसमान को छू सकता है जहाँ पर लोक का अंत भी हो जाता है। अलोक में भी वह प्रविष्ट हो सकता है। ज्ञान की महिमा बड़ी अपरम्पार है। उस ज्ञान की महिमा को पाने के लिए बड़े बड़े आचार्य ..... कुंद-कुंद जैसे भी कहते हैं।

बन्धुओ ! मेरे पास कहाँ ज्ञान है, गणधर परमेष्ठी भी कहते हैं- मेरे पास इतना ज्ञान कहाँ हैं। ज्ञान तो वह है जो निरावरण हुआ करता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति के पास बहुत कुछ धन है, वह कम धन वाला भी सोचता है कि मेरे पास बहुत कुछ धन हो गया किंतु जब ऊपर देखता है तो लगता है मेरे पास कुछ धन नहीं है। उसी प्रकार गणधर परमेष्ठी भी कहते हैं - मेरा क्या ज्ञान - मेरा क्या धन - धन तो वस्तुतः केवलज्ञानी के पास है। श्रुत तो केवल उसका साधन मात्र है। जब साधनमात्र है तो उसको हम साध्य मान करके नहीं चलें किन्तु साध्य तो वही है - निरावरण केवलज्ञान। उसको पाने के लिए आचार्य कुंद-कुंद देव कहते हैं - हमें ध्यान की बड़ी आवश्यकता है। उस ध्यान में जब लीन होंगे तब स्थिरता के कारण आगे की ओर हमारी यात्रा होगी। आगे की ओर जैसे-जैसे यात्रा होगी वैसे-वैसे हमारा बल भी बढ़ता चला जायेगा, जिम्मेदारियाँ बढ़ती चली जायेंगी।

पानी का बहाव निम्नगा माना जाता है। वह नीचे की ओर चला जाता है। पानी हमेशा बहता रहता है यात्रा करता रहता है। जल का यह स्वभाव है। उसी प्रकार उपयोग भी यात्रा करता रहता है। उपयोग का भी यही स्वभाव है। अतः देख लीजिये जल का यदि कुछ उपयोग करना है, सिंचन विभाग खोलना है तो क्या करते हैं ? क्या कीचड़ के द्वारा बाँध बांधते हैं ? नहीं ! नदी के तट तो कीचड़ के ही रहेंगे, मिट्टी के रहेंगे। सीमेंट कांक्रीट के नहीं रहते, लेकिन बाँध बांधेंगे तो कंकरीट के ही बांधेंगे। बाँध बांधने के उपरान्त क्या करते हैं - डेंजर लिख देते हैं- सावधान रहें - जल की यात्रा अभी भी चालू है। जब जल नीचे की ओर न जाकर के ऊपर की ओर चला जाता है तो उस समय खतरा और अधिक बढ़ जाता है। लेकिन जब तक ऊपर की ओर जल की यात्रा नहीं होगी तब तक सिंचन विभाग सामर्थ्यशाली नहीं हो सकता, जिसके माध्यम से सारी की सारी जमीन तृप्त होगी, लेकिन यह बात ध्यान रखना कि वह जल निम्नगा न होकर के ऊर्ध्वगा हो जाएगा तो खतरा भी अधिक रहेगा। यदि बाँध टूट जाये तो एक साथ नदी तट आदि सब कुछ समाप्त हो जायेगा।

ज्ञानोपयोग की धारा हमेशा बहती रहती है। बहने वाले उपयोग का इतना महत्त्व नहीं है उसका श्रुतज्ञान होने के उपरांत ध्यान रूपी बाँध के द्वारा उस ज्ञान को ऊपर की ओर ले जाया जाता है जिसके लिए महान संयम की आवश्यकता है। प्रकृति के वश का यह काम नहीं है श्रुत का सदुपयोग में तो यही है कि उस को संयम का बाँध बना कर के ऊपर उठा लेना और ऐसा उठा लिया कि कुछ मत पूछो भैया। जैसे पंडित जी (पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री,

बनारस) वाचना के समय बार-बार लब्धिस्थानों के बारे में बताते थे कि कैसे श्रेणी चढ़ी जाती है। किस प्रकार साधक अपनी साधना को ऊपर उठाता है, कितना परिश्रम होता है ? उसके परिश्रम से यह नहीं समझना कि उसे खेती अधिक करनी पड़ती है किन्तु चुटकी बजाते-बजाते अल्प समय में भावों में विशुद्धता, भावों में उत्कृष्टता ऐसी लाता है कि उसको ऊपर चढ़ने में देर नहीं लगती। इसी प्रकार आप लोगों को भी साधना करना है, बोलते बोलते ही (अल्प समय में) संयमित होकर ऊपर एक - एक गुणस्थान चढ़ते जाइये। जैसा कि अभी कहा था कि श्रुतज्ञान रूपी उस प्रवाह में संयम रूपी बाँध बांध करके ऊर्ध्वगति दे दी है और ऊपर जाकर के क्षपक श्रेणी में लीन हुआ। बारहवें गुणस्थान में क्षीण-कषाय-वीतराग छदमस्थ होता है तो अन्तर्मुहूर्त में वह कहाँ चला जाता? वह नीचे नहीं आता ऊपर जाता है, केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। संयम रूपी बाँध में बंधे हुए श्रुत की यह महिमा है। त्याग तपस्या का यह प्रभाव है।

जैसे-जैसे जल को तपाया जाता है वैसे-वैसे वह वाष्प बनकर ऊपर चला जाता है। अब उसे किसी आधार की कोई आवश्यकता नहीं वह बहुत ऊपर चला जाता है। एक बार छद्मस्थ अवस्था की सीमा का उल्लंघन हो जाता है फिर बाद में वह अंतरिक्ष (केवलज्ञान प्राप्त होने पर धरती से ऊपर उठ जाता है) में चला जाता है क्षितिज पर नहीं रहता। अंतरिक्ष में जाने के उपरांत कोई बाधा नहीं होती उसके पास ऑटोमेटिक ईंधन (पैट्रोल) है और वह वहीं पर घूमता रहता है। नभमण्डल में क्या हो रहा है। सारा मामला रडार के द्वारा वह पकड़ लेता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान के प्रवाह को संयम के बाँध के द्वारा ऊपर ले जायेंगे तो वह अनंत-शक्ति को लेकर के आसमान में रहेगा। किसी भी प्रकार से उसको क्षति नहीं पहुँचेंगी। मैंने एकमात्र यही उदाहरण दिया है। इस उदाहरण के माध्यम से ज्ञान की गति को ऊर्ध्वगति देना है। जिसका एक मात्र लक्ष्य संयमी हो जाना है और यही एकमात्र सम्यक्दृष्टि का लक्ष्य होना चाहिए कि मेरा जो उपलब्ध श्रुतज्ञान है इसी में मुझे राजी नहीं होना है। सतुंष्ट नहीं होना है किंतु मैं इस ज्ञान को निरावरण कब देखूँगा ? निरावरण देखने का एकमात्र यही ध्येय है।

नीचे वाली वस्तु को ऊपर ले जाने में बहुत कष्ट होता है। आप लोग पाँच खण्ड के ऊपर बैठ कर के टोंटी के द्वारा जल पीते हैं वह जल कैसे आया ? टोंटी के द्वारा तो आया लेकिन पाँच खण्ड पर कूप का जल टोंटी के द्वारा आया कैसे ? यहाँ - वहाँ जब आप देखेंगे, पता लगायेंगे तब मालूम पड़ेगा। पहले कम से कम दस खण्ड ऊँचाई को लेकर एक टैंक बनाया गया है। तब कहीं पाँचवे खण्ड में वह पानी आ रहा है वह नीचे से ऊपर नहीं। पहले ऊपर ले जाया गया, कौन से हॉर्सपावर की मशीन चल रही है वहाँ पर ? बहुत बडी शक्ति की आवश्यकता है। श्रुतज्ञान को ऊपर उठाना खेल नहीं है : हॉर्सपावर शक्ति आवश्यक है और आप लोगों के पास जो है वह हॉर्स पावर तो है ही नहीं। महाराज हमें भी आगे बढ़ाओ, क्या

बढ़ाओ ! इस प्रकार मात्र उपदेश देने से और सुनने से ज्ञान नहीं बढ़ता, ज्ञान को उर्ध्वगमन नहीं मिलता किन्तु संयम के द्वारा ही हम श्रुतज्ञान को केवलज्ञान में डाल सकते हैं। आज तक कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसने संयम लिये बिना ही श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का रूप दे दिया हो।

जब कभी भी हमें श्रुतज्ञान से केवलज्ञान मिलेगा उस संयम की बलिहारी है। संयम रूपी बाँध को बाँधने वाले इंजीनियर की भी बलिहारी है ऐसा इंजीनियर कौन होता है ? तो आचार्य कुंदकुंद देव कहते हैं - हमारे पास आ जाओ तो यहाँ मंच पर एक साथ सौ व्यक्तियों को भी अंतर्मुहूर्त में इंजीनियर बना देंगे। और वो अपने जीवनकाल में ऐसे बाँध बांध सकेंगे जिसके माध्यम से अनंतकाल तक उसका प्रवाह रहेगा ।

बन्धुओ ! श्रुत की क्या विशेषता बतायें श्रुत तो वही है जो केवलज्ञान के लिए साक्षात् कारण माना है।उस श्रुत की आराधना आप लोगों ने एक-डेढ़ माह लगातार सिद्धान्त ग्रंथों के माध्यम से की उसकी वाचना सुनी। जिस जिनवाणी का, गुफाओं में बैठकर के-धरसेन, 'पुष्पदंत, भूतबली एवं वीरसेन आचार्य जैसे महान श्रुत-सम्पन्न व्यक्तियों ने, सम्पादन किया उसको आप लोग आज एअरकंडीशन में बैठकर सुन रहे हैं, फिर भी कोई बात नहीं लेकिन इस प्रकार के ध्यान अध्ययन की साधना करते-करते एक दिन आपको वह समय उपलब्ध हो सकता है जिस दिन उसी प्रकार का वह संयम आप लोगों के जीवन में प्राप्त हो और नियम से प्राप्त होगा। विश्वास रखना और उसी के द्वारा आपको उसी प्रकार का फल मिलेगा जिस प्रकार का फल महावीर भगवान को मिला था और अन्त में उन गुरुवर श्री 'ज्ञानसागर' जी महाराज को स्मरण कर रहा हूँ।

जिनके परोक्ष आशीर्वाद से ही यह सारे के सारे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे हैं। उन्हीं की स्मृति में -

"तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष ।।

श्रुत पंचमी समारोह
स्थल 'पपौरा' जी
(दिनांक १२.६.८६)

❑ ❑ ❑

भगवान महावीर स्वामी की जय ....

उपकार या परोपकार ....

कहीं बाहर से प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं, मात्र अंधकार मिटाना है। जैसे-जैसे अंधकार मिटता जाएगा वैसे-वैसे प्रकाश उद्‌भूत होता जाएगा।

जो आत्मा का वास्तविक आधार है, जिसके माध्यम से जीवन में क्रान्ति आती है और सुख की प्राप्ति होती है वह है वीतरागता। उसी वीतरागता की प्राप्ति के लिए यह सारे के सारे प्रयास चल रहे हैं।

किसी के ऊपर यदि आप उपकार नहीं कर पा रहे हैं तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि आप दूसरों के पैरों में हुए घावों पर नमक नहीं छिड़कते तो भी समझो ! आप उसके ऊपर महान उपकार कर रहे हैं।

आज की पावन वेला में भगवान महावीर को उस अलौकिक पद की प्राप्ति हुई है,जिस पद के लिए उन्होंने वर्षों तक अथक परिश्रम किया और वह परिश्रम तन से, मन से और वचन से किया था। उनकी वह साधना दुनिया के समस्त प्राणियों से भिन्न थी। दुनिया का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है किन्तु सुख के साधनों के प्रति वह इतना चिंतनशील, मननशील नहीं होता जितना होना आवश्यक है।

साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी हुआ करते हैं, मोक्ष सुख एक साध्य वस्तु है जो कि प्राप्तव्य है, उसके लिए साधन के साथ-साथ साधना भी अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में जो दुख से छुटकारा चाहता है उसके लिए यह अनिवार्य होता है कि वह समीचीन साधना की खोज करे । आज भी मोक्ष सुख को प्रत्येक प्राणी चाहता है किन्तु उसे प्राप्त न कर पाने का यही एकमात्र कारण है कि वे उसकी उस साधना में कहीं न कहीं अवश्य फेल हैं और जब तक उनकी साधना सही-सही नहीं चलेगी तब तक उन्हें उस अभीष्ट सुख से वंचित रहना ही पड़ेगा।

अनंत सुख एक ऐसी चीज है जिसे हम महादुर्लभ कह सकते हैं, जो कि आत्मा का अनन्य एवं सबसे निकटतम गुण है। किन्तु उसकी अनुभूति तभी हो सकती है जब राग-द्वेष,आशा

तृष्णा को हम समाप्त करेंगे।

भगवान महावीर का कहना यही था कि :-

यह सुख की परिभाषा।
ना रहे मन में आशा।।
ईदृश हो प्रति भाषा।
परितः पूर्ण प्रकाशा ।। **(मुक्तक शतक)**

उजाला अपने पास है प्रातःकाल की बात है। हमने पहले ही विचार किया कि दस साल का अनुभव अपने को जाग्रत था, भीड़-भाड़ अवश्य होगी। इसलिए बड़े बाबा के मन्दिर में ना रहकर हमने छोटे बाबा का मन्दिर ही पसन्द किया, और वहीं पर सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि कार्य निर्विघ्न संपन्न किए। आज वैसे ही नींद, रात्रि बारह बजे से खुल गई क्योंकि बीच-बीच में आप लोगों की भीड़ जा रही थी। मैंने सोचा एक-एक करके भर्ती हो रही है, गाड़ियाँ आने लगी हैं। क्षेत्र कमेटी वाले यदि आपको १२ बजे ही छुट्टी दे देते तो आप बारह बजे से ही आ जाते पर वह दी नहीं गई।

एक व्यक्ति ने हाथ में टार्च ले रखी है। उसके माध्यम से वह प्रकाश प्राप्त कर रहा था। उस प्रकाश के माध्यम से जो वस्तु खो गई है, वह प्राप्त हो जाती है लेकिन उस समय टार्च का मुँह किधर था वह उन्हें मालूम नहीं था, उन्होंने बटन दबाया तो प्रकाश उनके मुँह पर पड़ा फलतः वह वस्तु जिसे वे, खोजना चाहते थे वह उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी।

वह देख रहा है सुख को किन्तु वह सुख अंदर है, बाहर नहीं। अपने पास है, ज्ञान का उपयोग हम बाहरी पदार्थों की ओर कर रहे हैं। ज्ञान तो अपना कार्य कर रहा है, ज्ञेय भूत पदार्थों को लाकर के आपके सामने रखेगा इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु हम उस ज्ञान का दुरुपयोग कर रहे हैं, इसलिए अनादिकाल से वह सुख हमारे पास होते हुए भी अज्ञात ही रहा है। हम बाहरी पदार्थों के ऊपर ही टार्च मार रहे हैं और टार्च का मारना ज्ञान का ही काम है। टार्च का काम है दिखाना, वह तो पक्षपात नहीं रखता कि मैं इसे दिखाऊँ और इसे ना दिखाऊँ उसका काम है मात्र दिखाना यही कारण है कि आप दूसरे पदार्थों से ही परिचित हो गए और स्वयं से अनभिज्ञ रहे क्योंकि कभी भी आपने अपने ऊपर उस टार्च का प्रयोग नहीं किया। दीपावली मनाते हैं आप लोग। मराठी भाषा से विचार करने पर यह विदित होता है कि दिवाली आई ... मैं उस भाषा की दृष्टि से यह कहना चाहूँगा कि दिवा अर्थात् दिन और अ का अर्थ है आई ... क्या आई ? दिवाली आई । भाषा ऐसी है कि वहाँ पर क्रियापद आ ली है। और दिवा अर्थात् दिन, उजाला। उस व्यक्ति के टार्च मारने से मुझे चिंतन के लिए विषय मिला, उन सज्जन के लिए क्या मिला यह तो वे ही जानें उनको शायद आकुलता हो गई होगी

कि अरे ! महाराज जी ने देख लिया होगा और वे टार्च बंद करके जल्दी-जल्दी चले गए।

आप लोग कहते हैं कि दीपावली आ गई, आ गई ... ३६५ दिन के लिए विराग। क्या कहूँ भैया ! जिसके बीच रात, उसकी क्या बात तो ३६५ दिन और रात की कौन कहे । तो वह टार्च वाला व्यक्ति भूलकर भी अपने आपको देखना नहीं चाहता था। यही एकमात्र हमारे पुरुषार्थ की कमी है। आपके पास साधन होने पर भी आप उसका सुमचित रूप से प्रयोग करना नहीं चाहते। और इस ही कमी ने आपको ऐसा धोखा दिया है अनादिकाल से कि आपके पास अनंत-सुख होते हुए भी उससे वंचित रहना पड़ा है। यह त्रैकालिक सत्य है, जब तक हम अपने ऊपर टार्च नहीं मारेंगे तब तक हमें बाहरी पदार्थों का अवलोकन ही मिलेगा अंदर का नहीं।

चेत चेतन चकित हो यह उस केवलज्ञान की भूमिका का ज्ञान है :-

चेत चेतन चकित हो ।
स्वचिंतन बस मुदित हो ।।
यों कहता मैं भूला ।
अब तक पर मैं फूला ।। **(मुक्तक शतक)**

जिस समय वह वैराग्यमयी ज्ञान किरण अपनी आत्मा में उद्‌भूत होती है उस समय की यह बात है, जब हम समस्त विश्व को भूल जाते हैं और अपने उपादेय भूत आत्म तत्त्व की आरती उतारना प्रारंभ कर देते हैं । वह पावन घड़ी आज तक आप लोगों को उपलब्ध नहीं हुई, और ऐसा भी नहीं है कि वह घड़ी दूसरों को मिल जाए तो आपको भी मिल जाए। दूसरे का जीवन भिन्न रहेगा। चूँकि इसका दृष्टिकोण भिन्न है, उसका आचार-विचार उसका लक्ष्य, उसका केन्द्र बिन्दु सब कुछ पृथक है। आप लोगों से मैं यही कहूँगा कि दूसरे की विशुद्धि, दूसरे का पुण्य आपके काम नहीं आने वाला है।

भगवान महावीर स्वामी ने जिस समय अपने ध्यान-चिंतन के फलस्वरूप अपने आत्मा को पाया, उस समय कई व्यक्ति वहाँ पर बैठे होंगे, कई व्यक्ति देखते होंगे लेकिन प्रत्येक के लिए उसका लाभ नहीं होता क्योंकि उसको आप खरीद नहीं सकते, दूसरे को प्राप्त हुई सुखद घड़ियों के ऊपर आपका कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने प्रयास किया फलस्वरूप उन्हें आत्मा की उपलब्धि हुई ऐसी स्थिति में हमें सोचना चाहिए कि हमारी साधना में कहाँ पर कमी है ? और है तो क्यों? और इसके उपरांत उस कमी की पूर्ति कैसे होगी? ये तीन प्रश्न आपके मन में हर बार उठना चाहिए, उठने के उपरांत आपको तदनुकूल प्रयास भी करना आवश्यक हो जाता है । भगवान महावीर ने प्रयास किया था :-

वैराग्य से तुम सुखी, भज के अहिंसा ।
होता दुखी जगत है, कर राग हिंसा ।।

जहाँ पर प्रभु विराजमान हैं वहीं पर सारा का सारा संसार विद्यमान है किन्तु वहाँ पर सुख यहाँ पर दुःख है। वहाँ पर मुक्ति, यहाँ पर बंधन । दुःख और सुख में कितना अंतर है ? बोलो ... महाराज दु और सु का तो अंतर है। दु और सु का तो अंतर है लेकिन यही अंतर जमीन आसमान का है। जमीन से आप आसमान को नापना चाहो तो कभी आकाश में विराम नहीं पा सकोगे, आकाश को नाप नहीं सकोगे। ठीक उसी प्रकार दुःख की सुख के साथ तुलना नहीं कर सकते । क्योंकि वह संभव ही नहीं।

प्रभु महावीर का जीवन सुखमय था, और संसारी जीवों का जीवन दुःखमय है। हमारी साधनायें विपरीत चल रही हैं। उनकी साधना अहिंसा की थी, और आपकी हिंसा की। उनकी साधना वीतरागता की है और आपकी सरागता की है।

संसार सकल त्रस्त है
पीड़ित व्याकुल विकल
इसमें है एक कारण
हृदय से नहीं हटाया राग को
हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को
जो है शरण, तारण-तरण ।

(नर्मदा का नरम कंकर)

एक व्यक्ति की दस खण्ड की बिल्डिंग खड़ी है आपके पड़ोस में, और आपकी भी वहीं पर बिल्डिंग है पर जो उस दस खण्ड के मालिक को आनन्द आ रहा है, वह आपके लिए नहीं आ रहा है और दूसरी बात है उसी दस खण्ड के मकान में वह बीस घंटा गुजारता है। उसके मकान को देखकर आपका मन कहता है कि कब इस प्रकार की बिल्डिंग का निर्माण करूँ। निर्माण करके क्या करेंगे, उसकी छाया में रहेंगे ये ही तो है। उसी प्रकार आप महावीर भगवान का निर्वाण महोत्सव मना करके भी उनके सुख को छीन नहीं सकते। उस सुख का आप एक कण भर भी अनुभव नहीं कर सकते। जिन्होंने अपने जीवन में साधना की है, उन्होंने ही इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त की है। ऐसे आज तक अनन्तों सिद्ध परमात्मा हो चुके हैं, हो रहे हैं और आगे भी होंगे। यह त्रैकालिक सत्य है, कि साधना करने वाले ही हुए हैं और हो रहे हैं आगे होंगे। हमारी साधना विपरीत चल रही है बंधुओ !

वैराग्य से तुम सुखी, भज के अहिंसा

होता दुःखी जगत है, कर राग हिंसा ।
सत् साधना सहज, साध्य सदा दिलाती,
दुःसाधना दुःखमयी विष ही पिलाती ।।

(निरंजन शतक / २८)

यह विपरीत साधना ही आप लोगों के दुःखों का फाउन्डेशन (नींव) है और इसको छोड़े बिना सुख मिलना असंभव है। तीन काल में भी आपके मन के विचार साकार नहीं हो पायेंगे क्योंकि ! साधना के बल पर ही हम साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। साधना आप लोगों की दुःख की है, आप राग-द्वेष को, विषय-कषाय को हटाना नहीं चाह रहे हैं और वीतरागता की उपासना हम करना चाहते हैं वह वीतरागता की उपासना फालतू है आपकी वह उपासना नहीं कहलाती, वह एकमात्र अभिनय है। नाटक आप खेलते रहो-खेलते रहो आपको आनंद नहीं आएगा। आप इन शब्दों के पास जाकर के कुछ अपना काम करना चाहो तो होने वाला नहीं है।

शब्द एक मात्र उस व्यक्ति को भाव तक पहुँचाने में सीढ़ी का काम करते हैं । लेकिन आप भाषा में ही अटक जाते हैं और प्रायः अपने ध्रुव बिन्दु को भूल जाते हैं । इस दुनिया का स्वभाव ध्रुव बिन्दु को भूल जाना ही बन चुका है। आप लोगों का लक्ष्य एक दिन तक ही चलता है दूसरे दिन लक्ष्य छूट जाता है।

भौतिक विषयों की चमक-दमक में उसका जो कोई भी लक्ष्य है वह छूट जाता है, और भटक जाता है और ऐसा भटक जाता है कि वर्षों तक मालूम नहीं पड़ता। इसलिए सच्चा साधक कभी भी बाधक कारणों को नहीं भूलता, सर्व प्रथम याद रखता है कि इसका फल क्या निकलेगा? दूसरी बात है कि जिसकी प्रत्येक श्वास में लक्ष्य सामने रहता है वही व्यक्ति वास्तविक साधक माना जाता है किन्तु जो उदयागत कर्मों की चपेट में आकर लक्ष्य को भूल जाता है वह कभी भी लक्ष्य को नहीं पा सकता।

भगवान महावीर की उम्र उस समय ३० वर्ष की थी जिस समय उन्होंने दीक्षा धारण की थी । उन्होंने ऐसा कौन सा लक्ष्य बनाया जिससे बारह वर्ष के अथक परिश्रम के उपरान्त उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। आज भी तीस-तीस साल के नौजवान कई हैं तो तीस मिनिट क्या तीस सैकेन्ड में उनका मन डायवर्ट हो जाता है। कुछ तो मन उछाल लेता है कि मैं भी ऐसा करूँ ! करूँ कि नहीं ? उसके पीछे-पीछे और भी संकल्प विकल्प जो भटकाने वाले हैं, वे सारे के सारे मिलकर उसे विचलित कर देते हैं। साधक की यह परिभाषा ध्यान रखने योग्य है :-

उस पथिक ! की क्या परीक्षा, पथ में शूल न हो ।
उस नाविक ! की क्या परीक्षा, धारा प्रतिकूल न हो ।।

(मूक-माटी)

हम तट पर रह करके कुछ काम करना चाहते हैं और फल यह निकलता है कि थोड़ी सी भी कठिनाई आने पर कार्य करना बन्द कर देते हैं फिर कार्य कैसे हो सकता है। जिस समय धारा प्रतिकूल रहती है उस समय वह नाविक अपनी चतुराई के साथ इस छोर से उस छोर तक चला जाए। यही एकमात्र उसकी परीक्षा है, परख है।

कई युवक आए मेरे पास उनमें कोई बी॰ए॰ था, तो कोई एम॰ ए॰, कोई एल॰ एल॰ बी॰ आदि-आदि लेकिन जब उनके मुख से हड़तालों की आवाज सुनता हूँ तो दंग रह जाता हूँ कि ये संस्कार इनमें कैसे और कहाँ पड़े। जिस समय उनके एग्जाम (परीक्षा) आती है, उस समय उनकी माँग होती है कि परीक्षा की तिथि बढ़ा दी जाये, नहीं तो हम हड़ताल करेंगे, अनशन करेंगे । भैया ३६५ दिन तो दिये हैं और फिर भी एक माह के लिए माँग, एक माह की कोई बात नहीं है वह पूरी हुई कि नहीं दूसरी माँग और अनेक माँगें साथ-साथ आ जाती हैं। इससे अच्छा तो यही है कि यूनिवर्सिटी में कोई ऐसी मशीन तैयार की जाए जो उन युवकों के लिए प्रमाण-पत्र वितरित कर दे। सीधी-सीधी बात तो यह है कि परीक्षा की भी क्या आवश्यकता है और अध्ययन की भी क्या आवश्यकता है अब जो चाहो वही कर लो। हम परिश्रम से डरते हैं। फल यह निकलता है यह अनायास की नीति हमें रसातल की ओर ले जाती है । विकास चाहते हुए भी उसका विनाश हो जाता है और वह विनाश इसलिए हो जाता है कि इसकी कोई साधना नहीं रहती।

भगवान महावीर ने सर्व प्रथम यह कहा है कि सत् साधना अनिवार्य है। उसमें देर भले ही लग जाये पर अन्धेर नहीं होना चाहिये और आप रेडीमेड जीवन व्यतीत करने वाले हैं । सुबह का शाम को नहीं ... नहीं बहुत देर हो गई इतना अंतराल तो ठीक नहीं है। आप डॉक्टर के पास जाकर के कहते हैं कि दवाई लिख दो और बस ! लिखते ही रोग दूर होना चाहिए, दवाई पीना तो दूर रहा। इसी कारण एक रोग के जाते ही दस और नये पैदा हो जाते हैं और आप यह जान नहीं पाते। विपरीत दिशा की ओर आप बहुत तेज गति से बढ़ते जा रहे हैं इसका ध्यान ही नहीं रहा कि मील के पत्थर के ऊपर क्या लिखा है ? इससे क्या मतलब है बस ! अपने को जाना है। उसके साथ-साथ ये भी तो विचार करो कि मुझे कहाँ जाना है?

एक व्यक्ति ने बड़े विश्वास के साथ कलकत्ता से बॉम्बे जाने का टिकिट खरीदा और वह मद्रास से आया था, सफर के कारण बहुत थका हुआ था। वह टिकिट खरीद करके देहली वाली गाड़ी में बैठ गया कि अब तो सुबह जा करके उठना है और वह निश्चिंत होकर सो गया। गाड़ी जा रही है देहली की ओर उसे जाना था बॉम्बे, कोई भी व्यवधायक नहीं है। ज्यों ही वह देहली के स्टेशन पर उतरता है। तो क्या बॉम्बे, आ गया ? जब साईन बोर्ड पर देहली देखता है तो कहता है कि अरे ! यह तो देहली आ गई । अब तो मुश्किल हो गई क्योंकि

उसके सारे के सारे रुपये खत्म हो गये थे, अब निर्वाह कैसे हो, और दूसरी बात यह है कि वह चोर साबित हो गया। टिकिट चेकर ने कहा कि तुम्हारा टिकिट कहाँ है ? वह टिकिट देता है पर वह टिकिट तो बॉम्बे का था, अतः वह टिकिट चेकर कहता है कि तुमने बदमाशी की है। वह व्यक्ति कहता है कि नहीं ... नहीं मैंने बदमाशी नहीं की है। ठीक है यदि बदमाशी नहीं कि तो हजार मील की यात्रा की है, फिर भी आपको इतना ख्याल तो रखना चाहिये कि यह गाड़ी कहाँ तक जायेगी कम से कम पूछना तो चाहिये था वह कहता है मैंने टिकिट तो खरीदा है ? तो मात्र टिकिट खरीदने से क्या मतलब है ?

यात्री का स्टेशन पर आते ही कर्त्तव्य अनिवार्य हो जाता है कि यह गाड़ी किधर से आई है, और किधर तक जाएगी, और मुझे कहाँ जाना है, और मैं कहाँ से आ रहा हूँ। हम यही तो भूल जाते हैं, सोचते हैं कि टिकिट खरीद लिया है। तो इसी के माध्यम से सब कुछ हो जायेगा किन्तु ऐसा नहीं है, जब तक कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब तक साधक को परम सावधानी बरतना चाहिए यदि किसी प्रकार की वह असावधानी करता है तो वह बहुत जल्दी लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

भगवान महावीर ने यह ध्यान रखा था कि साधनों के क्षेत्र में अहिंसा ही एकमात्र पाथेय का काम कर सकती है और इसके विपरीत हिंसा राग, द्वेष, मोह, मत्सर इसके लिए प्रतिकूल है। इनके माध्यम से यदि मैं चलूँगा तो तीनकाल में काम नहीं होगा, दूसरी बात यह है, उन्होंने ये भी विशेषता बताई है, कि साधना अपनाने से पहले बाधक कारणों को पहले हटाओ। बाधक कारणों को हटायेंगे तो साधक कारण अपने आप आ जायेगें। साधक कारण अपने आप आ गये हैं लेकिन ! बाधक कारणों का अभाव नहीं हुआ है तो भी ध्यान रखना, वह संसार से पार नहीं हो सकता है। जीवन में भगवान महावीर का एक उद्देश्य रहा है कि उन्होंने अहिंसा को अपनाया इतना ही नहीं हिंसा का कोई काम भी नहीं किया बल्कि हिंसा का निषेध ही किया। हिंसा का जैसे-जैसे निषेध किया वैसे-वैसे अहिंसा उभरती गई उनके अंदर, कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। बाहर से प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं, मात्र अंधकार मिटाना है। जैसे-जैसे अंधकार मिटता जाएगा वैसे वैसे प्रकाश उद्‌भूत होता जायेगा ।

कुछ साधन आपने रखे हैं लेकिन उनका समुचित प्रयोग करना आप नहीं जानते। और जब तक समुचित रूप से प्रयोग नहीं होगा तब तक आप अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकेंगे। जब तक माइक बोलता रहता है तब तक आप कानों को इधर-उधर रखकर सभा में हल्ला-गुल्ला करते हैं, और जब वह बंद हो जाता है तब आप कान लगा करके सुनते हैं। आपने अपने जीवन को बहुत व्यस्त बना रखा है कि उसमें बहुत समय अनावश्यक चला

जाता है। जीवन बहुत छोटा है और उस छोटे से जीवन में भी हमने इतना समय निकाल रखा है फालतू कामों के लिये कि उनकी कोई गिनती नहीं है।

भगवान महावीर ने कहा कि अपव्यय इस जीव को बहुत सताता है, व्यय नहीं सताता किंतु अपव्यय जीवन में आकुलता पैदा कर देता है। समय का अपव्यय, धन का अपव्यय, शारीरिक शक्ति का अपव्यय। अपव्यय बहुत प्रकार के होते हैं। आप लोगों को यह मालूम ही नहीं पड़ता कि हमारा सारा का सारा जीवन अपव्यय की कोटि में जा रहा है। इसलिये अंतिम समय में जाकर के वे पश्चाताप का अनुभव करते हैं और अंत में पश्चाताप करने से कुछ नहीं होता।

आधे दिन पाछे गए हरि से किया न हेत ।
अब पछतावे होत क्या चिड़िया चुग गई खेत ।।

एक महिला दूध तपा रही है। उसने ध्यान नहीं दिया कि दूध तप रहा है, करीब आधा घंटा हो गया अग्नि के तेज होने से वह ऊपर आ रहा है, उस महिला ने यह नहीं देखा कि उसमें क्या प्रक्रिया हो रही है जैसे ही पानी सूखा वैसे ही दूध पात्र से बाहर आ गया। उस समय वह महिला उसको फूँकने लग जाती है फिर भी फूँकते-फूँकते वह दूध ऊपर आ जाता है वह रुकता नहीं है क्योंकि उसको जितनी ऊष्मा चाहिए थी उससे ज्यादा हो गई उसका अपव्यय हो गया। ऐसी स्थिति में हानि ही होगी फूँकने से वह रुकेगा नहीं, वह नीचे नहीं जाएगा, बल्कि थोड़ी सी धारा छोड़ दो पानी की। घाटा पड़ जाता है, घाटा तो पड़ेगा ही, अपव्यय में घाटा नियम से पड़ता है। हमारा सारा का सारा जीवन आदि से अंत तक अपव्यय की कोटि में जा रहा है।

जिस व्यक्ति ने बाधक कारणों को नहीं हटाया, और साधक कारणों के बारे में प्रयास कर रहा है। उसे जीवन के अंत समय में पश्चाताप ही लगता है और कुछ नहीं। प्रायः जो विषय कषाय नहीं छोड़ते वे भी जीवन के अंतिम समय में पश्चाताप करते हैं। जब वे अपना इतिहास देखते हैं तो उन्हें रोना आ जाता है कि मैंने ! अपने जीवन में कुछ भी धार्मिक कार्य नहीं किया। अब मुझे नीचे जाना पड़ेगा इसलिए वह डरता है। और रोता है। जिसने अच्छे कार्य किये हैं, उसे अंत समय में रोना नहीं आता वह पश्चाताप नहीं करता । वह अवश्य ही विजयी बनता है वह सोचता है कि मैंने ! साधना की है, अपने जीवन को अपव्यय से बचाया है। इस तरह मेरे जीवन में कोई भी कमी नहीं रही है अब आगे का जो जीवन होगा वह मेरे अनुरूप होगा। प्रयास भूमिका से ही प्रारंभ होना चाहिये, समीचीन साधना होनी

चाहिये। यदि उतावली में आप कोई भी काम करोगे तो वह नियम से ठीक नहीं होगा। सावधानी के साथ कार्य करोगे तो अच्छा होगा जो कुछ भी कार्य, साधना हो वह अहिंसापूर्वक हो, राग-द्वेष को कम करते हुए हो। अहिंसा किसी चिड़िया का नाम नहीं है, जिसको आप पाना चाहते हैं। किन्तु राग-द्वेष को हटाना ही अहिंसा है। जो राग-द्वेष से सहित है वह हिंसक है, और वे बहुत ही जल्दी अपनी साधना के मार्ग से स्खलित हो जाते हैं - प्रतिफलस्वरूप उन्हें राग-द्वेष एवं हिंसा ही हाथ लगती है।

महावीर स्वामी ने अपने आपको बहुत जल्दी राग-द्वेष से निवृत्त किया था। समीचीन साधनों को अपनाकर बहुत जल्दी बारह साल में ही उन्होंने अपना काम किया और उसमें ध्यान रखना बारह साल का समय प्रवाह की अपेक्षा से लगा था वैसे मात्र अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें कैवल्य की उपलब्धि हो गई थी, लेकिन जब तक समीचीन साधना की पूर्ति नहीं हुई थी तब तक चराचर पदार्थों को जानने वाला वह केवलज्ञान उपलब्ध नहीं हुआ था। बंधुओ ! जिस समय साधना पूर्ण हुई उसी समय कैवल्य की अनुभूति प्राप्त हो गई । उन्हीं के अनुसार अपने को राग-द्वेष की प्रणाली से बचाते हुए, अहिंसा की गोद में अपने-आपको समर्पित करना है।

अनादिकाल से हमें अहिंसा की उपलब्धि नहीं हुई है। और जब तक अहिंसा की उपलब्धि नहीं होगी तब तक हमारी जो साधनायें हैं, वे मात्र दुख देने वाली हैं। दुःख को यदि मिटाना चाहते हो, तो यह ध्यान रखो ! समीचीन साधनों का आलम्बन लेना परमावश्यक है।

भगवान महावीर के बारे में कई लोगों की उल्टी धारणायें हैं। चूँकि ! जब से उन्होंने समीचीन पथ का आलम्बन लिया और उस पथ पर अपने आपके जीवन को चलाना प्रारंभ किया तब उनके जीवन की कोई ऐसी घटना नहीं है जो परोपकारमय हो, लेकिन आप लोग परोपकार को महत्त्व देते हैं उसकी ओर हम ध्यान नहीं रख पाते कि, परोपकार से बढ़कर भी कोई चीज है और वह है स्व के ऊपर उपकार करना बस ! यही महावीर भगवान का वास्तविक फाउन्डेशन (नींव) है । स्व के ऊपर जो उपकार करेगा, उससे बढ़कर और कोई परोपकार नहीं होगा । तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जिस व्यक्ति ने पर से मुख मोड़ लिया, पर के प्रति जो बाधक कारण उपस्थित कर रहा था वह बिलकुल डाउन (कम) हो गया। यह नहीं समझना चाहिये कि हम पर के लिए उपकार करते हैं तो अपकार नहीं करते है। यह लेन-देन चलता रहता है सेर भर देना और सवा सेर लेना यह आपका धंधा है। दिखता ऐसा ही है कि मैंने पर के ऊपर कुछ उपकार किया है किन्तु वह पर के ऊपर उपकार नहीं है। जो पर के लिए कुछ करता है वह अपने लिए स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा तो रखता ही है। और जिस समय आप उपकार करते हैं, उस समय दूसरे को कोई बाधा नहीं होनी चाहिए आपके माध्यम से इसलिए आचार्यों ने उपकार करने से धर्म होता है

ऐसा नहीं कहा किन्तु जो अपने ऊपर उपकार करना प्रारंभ कर देता है, उस समय उसके माध्यम से पर के ऊपर उपकार होता चला जाता है। आप दूसरे पर उपकार मत करो कोई बात नहीं ! लेकिन तुम यदि उसके लिए बाधक कारण उपस्थित नहीं करोगे तो पर के प्रति आपका महान उपकार माना जाएगा ।

जिस समय आप प्रवृत्ति करोगे तो उस समय उसको कुछ न कुछ धक्का अवश्य लगेगा। मान लो कोई स्वर्णाभरण बनाना होंगे तो, स्वर्ण का आभरण अलग चीज है, और स्वर्ण अलग चीज है। जिस समय आप स्वर्ण के बारे में पूछते हैं, तो वह बिल्कुल प्योर (शुद्ध) रहेगा ज्यों ही उसको आभरण के रूप में देखना चाहोगे तो कुछ ना कुछ बट्टा अवश्य आएगा। उस बट्टे के बिना वह आभरण बन नहीं सकता क्योंकि सोने का गुण मृदुपना है, थोड़ा सा भी धक्का लग जाए तो वह आभरण कंगन आदि टूट जाएगा। यदि आप उस सोने को, कंगन के रूप में देखना चाहोगे तो वह १०० टंच नहीं रह सकेगा। उसमें कुछ न कुछ बट्टा अवश्य आएगा, मिलावट अवश्य आएगी तभी आप उस कंगन को धारण कर सकोगे। उसी प्रकार ज्यों ही आपने पर के प्रति उपकार करने की दृष्टि बनाई, त्यों ही उसमें बट्टा लग गया।

"मरहम पट्टी बांधकर, वृण का कर उपचार ।
ऐसा यदि ना बन सके, डंडा तो मत मार ।।"
(दोहा-दोहन / आचार्य जी)

हम करना यह चाहते हैं और यह कहकर के अपने आपको कृतार्थ बनाना चाहते हैं कि मैंने मरहम पट्टी की, ये किया, वो किया मरहम पट्टी के माध्यम से उस व्यक्ति को हम बांधना चाहते हैं, घाव ठीक होने के उपरांत जब कभी भी वह मिल जाता है तो आप कहते हैं कि हमने तुम्हें उस दिन मरहम ... पट्टी .... चिपका दी थी। और इस माध्यम से आप उस व्यक्ति को मोल खरीदना चाहते हैं बल्कि उसका भावी जीवन भी बंध गया। आपकी मरहम पट्टी में वह बिक जायेगा। किसी को आप एक रोटी भी खिलाते हैं तो बस ! हो जाता है काम, और उसको जीवन भर कहने के (टोकने के) आप अधिकारी हो जाते हैं। थोड़ा भी समय मिला और आप कह देते हैं कि देख लो क्या इतिहास था तुम्हारा अब चार दिन के लिए सेठ बन ये हो।

समीचीन अध्ययन आज तक हमने नहीं किया और निस्वार्थ सेवा भी नहीं की।

किसी सज्जन ने एक बार मुझे सुनाया था कि एक व्यक्ति तालाब में डूब रहा था। वह जिस समय तालाब में डूब रहा था उस समय दूसरे व्यक्ति ने देख लिया, वह तैरना जानता था उसने अपनी मेहनत और परिश्रम से उस डूबते हुए व्यक्ति को बचाया, तालाब से बाहर

निकाला और बाहर निकालने के उपरांत वह व्यक्ति जो डूब रहा था उस व्यक्ति की कृतज्ञता के प्रति नम्रीभूत होकर बोला : - आपने मुझे जीवन प्रदान कर बहुत बड़ा उपकार किया, और इसके लिये तो मैं कभी भूलूंगा नहीं। आप यदि कुछ सेवा मुझसे चाहो तो कहो, नहीं .... नहीं, मुझे अभी आवश्यकता नहीं है। कुछ समय उपरांत जिसने बचाया था उस व्यक्ति ने कविता लिखना प्रारंभ किया तो वह सोचता है मैं कविता तो लिखता हूँ, अतः मेरा प्रचार-प्रसार भी अधिक होना चाहिये और जो व्यक्ति डूब रहा था वह किसी प्रसिद्ध पत्रिका का संपादक था, तो वह सोचता है कि मैं उससे जाकर के कह सकता हूँ। बात यह थी कि उसकी कविता कोई भी पत्रिका वाले मंजूर नहीं कर रहे थे, वह जाकर कहता है कि आज मेरा थोड़ा सा काम है; हाँ ! हाँ ! बोलो आपको तो कभी भूलूँगा नहीं संपादक ने बड़ी नम्रतापूर्वक कहा । यह एक मौलिक कविता है जिसको मैंने लिखा है, कितनी अच्छी है देखो तो सही इस प्रकार अपने आप शाबाशी लेकर के कहा। संपादक कविता पढ़कर बोला कि भाई साहब आप ऐसा करो कि मुझे तालाब के पास ले चलो, जिसमें मैं डूबा था और आप मुझे डुबा दो, मुझे डूबना मंजूर है, लेकिन आपकी यह कविता छापना मंजूर नहीं है।

आप लोगों ने अर्थ समझा होगा कोई व्यक्ति यदि उपकार करता है तो प्रत्युपकार की इच्छा से करता है। आप वैलेंस में देखते रहते हैं कि मैंने इतने-इतने कार्य किये हैं, जब कभी भी प्रसंग आ जाए तो उतने-उतने उपकारों के आप दावेदार हैं, आपके पास डेट (तारीख) तक लिखी रहती है कि जब कभी भी काम होगा तब पकडूँगा जाकर के उसी कालर को । बंधुओ ! यह उपकार नहीं एक प्रकार का व्यवसाय है। इस प्रकार के व्यवहार से महावीर भगवान कोशों दूर रहते थे। यदि हम किसी के ऊपर उपकार नहीं कर रहे हैं किन्तु जिसके पैर में घाव हुआ है, उसमें नमक भी नहीं डाल रहे हैं तो हम उसके प्रति महान उपकार कर रहे हैं। यह रहस्य महावीर भगवान के जीवन का रहा, और राग-द्वेष उनके हृदय में जन्म नहीं ले पाये। राग-द्वेष पर की अपेक्षा से जन्म लेते हैं। स्व की अपेक्षा से राग-द्वेष कभी पैदा नहीं हुआ करते। हम वस्तु को छोटा, बड़ा, हल्का भारी कहते हैं। गौण रूप से छोटे के सामने बड़ा अवश्य है और हल्के के सामने भारी अवश्य है, गुणवान के सामने अवगुणी अवश्य है। इस प्रकार की तुलना जब तक होती रहेगी तब तक राग-द्वेष अवश्य रहेगा।

जो वस्तु को न बड़ा न छोटा कहता है, समता रखता है वही व्यक्ति भगवान महावीर के मार्ग पर अपने आपको नियुक्त कर पाता है। एक को अच्छा कह दें तो दूसरे को अपने आप धक्का लग जाता है हम दूसरे को धक्का लगाने के लिए अच्छा बना लेते हैं अपने आपको। और "जो कुछ है ... सो है " उससे किसी को धक्का नहीं लगता, मेरा-तेरा समाप्त हो जाता है। प्रवचन तो हो ही जाएगा, प्रयास तो यही करूँगा। घड़ी तो बहुत जल्दी-जल्दी चल रही है क्या बात है ? महावीर भगवान का शासन समाप्त हो गया ? मैं यह कह रहा हूँ जब तक यह संसारी प्राणी तेरा-मेरा करता रहेगा, तब तक राग-द्वेष होता रहेगा।

भगवान महावीर ने कहा कि राग-द्वेष को हटाना मोक्ष-मार्ग में अनिवार्य है। तेरा-मेरा हटाकर के जो कुछ 'मैं रूप' सत्ता है उसे भी उन्होंने राग - द्वेष बढ़ाने की उपाधि दी है। कौन ? क्या ? इसके बारे में उपाधियाँ लग जाती हैं। प्रत्येक के लिए "का" का प्रयोग है। और "है" का प्रयोग जो है वह विशेष रूप से क्या करता है प्रत्येक की व्यवस्था करता है और उसमें किसी प्रकार का तेरा-मेरा नहीं होता, और तेरा-मेरा नहीं होने से उस "है" में कभी राग-द्वेष नहीं होता। भगवान महावीर स्वामी ने अपने आपको "है" के रूप में परिवर्तित कर दिया। और "है" के रूप में परिवर्तित होते ही जो अनादिकाल से "मैं, मैं" मेरा-तेरा समाप्त हो गया इसलिए वे केन्द्र तक पहुँच गये। केन्द्र तक पहुँचने के लिए परिधि का त्याग परमावश्यक है। प्रायः करके परिधि के ऊपर जो नाचता रहता है उसके लिए वह केन्द्र बिन्दु प्राप्त नहीं हो पाता। जो कुछ मजा है वह केन्द्र बिन्दु में है, परिधि में मजा नहीं है। केन्द्र में सुरक्षा है और परिधि में जीवन समाप्त ।

एक बार की बात है पिताजी और पुत्र जा रहे थे। नाम तो आपको मालूम है, कबीरदास जी और उनका बेटा ! कमाल ! पिताजी कहते हैं कि देखो बेटा यह सारा का सारा संसार पिसता जा रहा है कोई सुखी नहीं है। संसार के सारे के सारे जितने भी जीव हैं सब दुःखी हैं। और यह संसार दुःख का अनुभव किस प्रकार कर रहा है उसके लिए वे चक्की का उदाहरण देते हैं ।

जिस प्रकार चक्की के दोनों पाटों में धान के दाने पिस रहे हैं उसी प्रकार सारा का सारा संसार दुःख और सुख रूपी चक्की में पिसता जा रहा है। यह सब बात सुनकर कमाल कहता है कि पिताजी ! एक बात मैं कहना चाहता हूँ। वास्तव में बात तो आपने बहुत अच्छी कही है। पूरे सोलह आने तो मैं कह नहीं सकूँगा, किन्तु सत्य बात, रहस्य की बात यह है कि सारा का सारा संसार दुःखी ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जो सुख का अनुभव कर रहे हैं । आपने जो उदाहरण दिया है, वह पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं है। आपका उदाहरण भी स्ववचन से बाधित है, कैसे है ? एक बात मैं यहाँ पर बताना चाहूँगा कि गुरु और शिष्य में जिस समय वार्तालाप होता है, उस समय यदि शिष्य गुरु की थोड़ी सी भी गलती निकाल लेता है तो गुरु को बहुत आनंद होता है कि हाँ ! अब इसके बारे में मुझे कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके ज्ञान में प्रौढ़ता आ गई है अब यह तैयार हो गया है। कबीर कहता है कमाल से कि बता दे बेटा ! क्या बात है जिससे मैं भी शिक्षा ले सकूँ । तब वह कमाल कहता है कि पिताजी! आपका उदाहरण एक देश तो घटित हो रहा है

सर्व देश नहीं, हाँ .... हाँ बेटा ! मैंने वही तो पूछा है कि कैसे नहीं सर्व देश घटता । इस चक्की में धान तो पिस रहे हैं, प्रायः सभी पिस रहे हैं लेकिन .... लेकिन ! क्या ? बोलो तो सही, जो केन्द्र में कील के सहारे धान है वे धान के दाने तीन काल में पिस नहीं सकते। और मैं भी केन्द्र के बारे में बात कर रहा था। परिधि में सारे के सारे धान पिसते जा रहे हैं। उस चक्की को तो छोड़ दीजिये, महिलायें जब चक्की चलाती हैं तब जाकर के देख लीजिए, वह बार-बार धान तो डालती हैं पर अंगुलियों से यूं यूं करती जाती है। मैंने सोचा कि धान तो डाल दी अब ऐसा क्यों करती हैं हाथ हटाना चाहिये। तो मालूम पड़ा कि उसमें भी कुछ धान ऐसे मजबूत रहते हैं जो कीले को छोड़कर नहीं जा रहे थे। और उस महिला को तो आटा बनाना है। कोई भी धान का दाना रह ना जाये इसलिए वह बार-बार ऐसे-ऐसे (अंगुली चलाकर इशारा) करती रहती थी। बिलकुल ठीक है कीले के पास जो रहेगा वह भले ही चक्की एक घंटा भी चलती रहे तो भी वह धान का दाना पिसेगा नहीं इसी प्रकार पिताजी ! बात ऐसी है कि जो राग-द्वेष की परिधि के ऊपर नाच रहे हैं, पर्यायों के ऊपर नाच रहे हैं वे तो पिसेंगे और उनका आटा बनेगा। किन्तु जो राग-द्वेष नहीं करेगा तो उसकी पर्यायदृष्टि मिट जायेगी, और पर्यायदृष्टि नहीं होगी तो उसी में वह साबुत रहेगा, उसको कौन मिटा सकता है ।

संसारी प्राणी कभी सोचता है कि मैं राजा बन गया, और जब तक प्रजा है तब तक राजा है। प्रजा पलटेगी तो फिर राजा खाजा बन जाएगा नाम तक नहीं रहेगा। खाजा का अर्थ क्या है, खाजा एक पकवान का नाम है तो वह राजा तब तक रहता है जब तक प्रजा पलटी नहीं है यानि उसके अनुकूल है तो उसी प्रकार जब तक हम राग-द्वेष करते रहेंगे तब तक मिटते रहेंगे, और हमारा कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में वह खुशबू, वह महक हमें नहीं आ सकती । हमारा जीवन दुर्गन्धमय रहेगा। जीवन सड़ता ही जा रहा है, यह पर्यायबुद्धि का ही एकमात्र परिणाम है ।

महावीर स्वामी ने आज के दिन अनादिकाल से जो पर्यायबुद्धि चल रही थी, उसे हटा दिया, और जो ध्रौव्य है जिसे केन्द्र बिन्दु कहना चाहिये उसे प्राप्त कर लिया। केन्द्र में रहने वाला व्यक्ति कभी पिसता नहीं है। अब जन्म, जरा, मृत्यु उन्हें कुछ भी नहीं है। जन्म तो समाप्त हो जाता है और मृत्यु की ही मृत्यु हो जाती है और अनंत काल के लिए मात्र जीवन रहता है। इसलिए जो जीवन जीना चाहता है उस व्यक्ति के लिए यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि महावीर भगवान ने जो केन्द्र बिन्दु बनाई थी, वह है एकमात्र "सत्ता" जिस सत्ता में किसी प्रकार की प्रक्रिया नहीं होती, और होते हुए भी वह प्रक्रिया उसे बाधक नहीं होती। एक मुक्तक के माध्यम से आप समझ सकते हैं -

व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दे,
उसे महासत्ता में मिला दे ।
आर-पार तदाकार ,
सत्तामात्र निराकार ।
(मुक्तक-शतक)

ऐसा जीवन बन जाये, जो आर-पार हो जाये, अटके नहीं, किसी प्रकार की अटकन न हो तो भटकन भी न हो ! अटके नहीं आर-पार हो जाये । हमारी दृष्टि अटकती है, कहाँ अटकती है ? पर्यायों में अटकती है, इसलिए हम दुःखी हो जाते हैं ट्रांसफर होता चला जाए प्रत्येक द्रव्य में अंदर चला जाये ऊपर नहीं क्योंकि झगड़ा आदि कार्य जो भी हैं वे सब ऊपर में ही हैं, अंदर नहीं हैं। वह कैसा है ? अंदर-कंदर मंदर सुन्दर, और अंदर का अर्थ बिल्कुल द्रव्य में और वहाँ पर ऐसा कंदर है बहुत गहराई में जाने पर कोई आवाज कानों तक नहीं आ पाती । वहाँ पर सुन्दर चेतनात्मक ज्ञान दर्शन रूप आत्मा बैठा हुआ है ।

एक पिक्चर देखी थी, उसमें एक व्यक्ति धन कमाकर अपने घर जा रहा था। उसका एक मंदिर था पहले उसमें एक दरवाजा मिलता है, ५-६ कदम चलने पर दूसरा दरवाजा मिलता है इस प्रकार कई दरवाजे मिलते हैं । जैसे-जैसे वह अन्दर चला जाता है वैसे-वैसे वे दरवाजे बन्द होते चले जाते हैं इसके उपरान्त वह एक गाना भी गाने लगता है। अंदर की आवाज बाहर तक नहीं आती। फिर अंतिम दरवाजा आता है तो वहाँ पर उसका साम्राज्य बिछा हुआ है वहाँ पर उसकी धन दौलत थी वह कभी ताला नहीं लगाता था। उसे देखकर वह आनंद का अनुभव कर रहा था। यह बहुत ठीक है अंदर, कंदर में वह ऐसी गहराई में जा रहा है बिल्कुल निर्भीक होकर के जहाँ पर कोई प्रवेश नहीं पा सकता और वह रिवाल्विंग चेयर पर घूम रहा था। मैंने कहा यह भी ठीक है इसी प्रकार महावीर भगवान अंदर चले गये - इतने अंदर चले गये कि वे अपने मंदर में आनंद के साथ घूम रहे हैं और अब अनंत काल तक उसी में घूमते हुए आनंद का अनुभव करेंगे। बंधुओ ! आज के इस प्रवचन से यही शिक्षा लेना है कि यदि किसी का उपकार नहीं कर सकते हो तो अपकार करने के भाव मत करो और वास्तविक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो अपने ऊपर उपकार करते जाना ही सही मायने में परोपकार करना है। जैसा कि महावीर भगवान ने अपने छद्मस्थ काल में हमेशा अपनी साधना की ओर ध्यान दिया था। अपनी आत्मा का कल्याण करने में जो साधक लगा हुआ है, अपने ऊपर ही उपकार करने में जो लगा हुआ है। वही व्यक्ति वास्तव में सभी जीवों के ऊपर उपकार (परोपकार) कर सकता है। भगवान महावीर ने पहले आत्मकल्याण किया बाद में जनकल्याण किया। हमें भी भगवान महावीर के समान ही आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होना है और अन्त में एक मुक्तक

कहकर समाप्त करता हूँ -

चेत चेतन चकित हो ,
स्व चिंतन वश मुदित हो ।
यों कहता मैं - भूला ,
अब तक पर में - फूला ।।

(मुक्तक-शतक)

❑ ❑ ❑

महावीर भगवान की जय

'प्रवचनामृत'

निर्मल दृष्टि

⁂ दर्शनविशुद्धि मात्र सम्यक्दर्शन नहीं है। दृष्टि में निर्मलता होना दर्शनविशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्त्व चिंतन से।

⁂ कार्य से कारण की महत्ता अधिक है क्योंकि यदि कारण न हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। फूल न हो तो फल की प्राप्ति नहीं होगी।

कुछ लोग ऐसे भगवान की कल्पना करते हैं जो उनकी सब इच्छाओं की पूर्ति करें । 'खुदा मेहरबान तो गधा पहलवान' ऐसा लोग कहते हैं। इसीलिए महावीर को बहुत से लोग भगवान मानने को तैयार नहीं। किन्तु सत्य/तथ्य ये है कि भगवान बनने के पहले तो शुभाशुभ कार्य किए जा सकते हैं, भगवान बनने के बाद नहीं।

भगवान महावीर जब पूर्व जीवन में नंदराज चक्रवर्ती थे, तब उनको एक विकल्प हुआ कि "मैं सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण करूँ", और इसी विकल्प के फलस्वरूप उन्हें तीर्थकर प्रकृति का बंध हुआ। कल्याण करने के लिये भी बंधन स्वीकार करना पड़ा। ये बंधन चेष्टापूर्वक किया जाता है और इस बंधन के पश्चात् मुक्ति होती है। यदि माँ केवल अपनी ही ओर देखे तो बच्चों का पालन सम्भव नहीं होगा।

'पर' के कल्याण में भी 'स्व' कल्याण निहित है। ये बात दूसरी है कि फिर दूसरे का कल्याण हो अथवा न भी हो। किसान की भावना यही रहती है कि "वृष्टि समय पर हुआ करे" और वृष्टि तो जब भी होगी सभी के खेतों पर होगी किन्तु जब किसान फसल काटता है तो अपनी ही काटता है, किसी दूसरे की नहीं। अर्थात् कल्याण सबका चाहता है किन्तु पूर्ति अपने ही स्वार्थ की करता है।

दर्शनविशुद्धि मात्र सम्यग्दर्शन नहीं है। दृष्टि में निर्मलता का होना दर्शनविशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्व चिन्तन से।

हमारी दृष्टि बड़ी दोषपूर्ण है। हम देखते तो अनेक वस्तुएँ हैं किन्तु उन्हें हम साफ

नहीं देख पाते । हमारी आँखों पर किसी न किसी रंग का चश्मा लगा हुआ है। प्रकाश का रंग कैसा है, आप बतायें। क्या यह लाल है ? क्या हरा या पीला है ? नहीं, प्रकाश का कोई वर्ण नहीं। वह तो वर्णातीत है, किन्तु विभिन्न रंग वाले काँच के सम्पर्क से हम उस प्रकाश को लाल,पीला या हरा कहते हैं, इसी प्रकार हमारा स्वरूप क्या है ? 'अवर्णोऽहं' मेरा कोई वर्ण नहीं, 'अरसोऽहं' मुझ में कोई रस नहीं, 'अस्पर्शोऽहं' मुझे छुआ नहीं जा सकता । यह मेरा स्वरूप है। किन्तु इस स्वरूप को आप पहिचान नहीं पाते। यही है हमारी दृष्टि का दोष।

हम पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की धारणा बनाते हैं। कुछ पदार्थों को इष्ट मानते हैं, जिन्हें हम हितकारी समझते हैं । कुछ पदार्थों को अनिष्ट मानते हैं, अहितकारी समझते हैं पर वास्तव में कोई पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट । इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी हमारी दृष्टि का दोष है।

इसी प्रकार जैनाचार्यों ने बताया है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न। ऊपर का आवरण ये शरीर केवल एक छिलके के समान है यह उन्होंने अनुभव द्वारा बताया है किन्तु हम अनुभव की बात भी नहीं मानते। हमारी स्थिति बच्चे जैसी है। दीपक जलता है तो बच्चे को यह समझाया जाता है कि इसे छूना नहीं । उसे दीपक से बचाने की चेष्टा की जाती है किन्तु वह बच्चा उस दीपक पर हाथ रख ही देता है और जब एक बार जल जाता है तो वह उस दीपक के पास अपना हाथ नहीं ले जाता । हमारी दृष्टि का परिमार्जन तभी समझा जायेगा, जब हम प्रत्येक वस्तु को उसके असली रूप में देखें/ समझें।

यह दर्शनविशुद्धि लाखों-करोड़ों में से एक को होती है, किन्तु होगी ये विशुद्धि केवल मन्दकषाय में ही। शास्त्रीय भाषा में दर्शन-विशुद्धि चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक हो सकती है। सद्गृहस्थ की अवस्था से लेकर उत्कृष्ट मुनि की अवस्था तक यह विशुद्धि होती है। श्रेणी में भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु होगा मंद कषाय के सद्भाव में। दूसरे के कल्याण की भावना का विकल्प जब होगा, तब बंध होगा। तीर्थंकर प्रकृति एक निकाचित बंध है जो मोक्ष ही ले जायेगा।

कल शास्त्री जी मेरे पास आये थे। साथ में गोम्मटसार की कुछ प्रतियाँ लाये थे। उसमें एक बात बड़े मार्के की देखने को मिली। तीर्थंकर प्रकृति का उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है। जब जीव मोक्ष की ओर प्रयाण करता है तब यह तीर्थंकर प्रकृति अपनी विजयपताका फहराते हुए चलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कषायों से ही कर्मबन्ध होता है और कषायों से ही कर्मों का निर्मूलन होता है। जैसे पानी से ही कीचड़ बनता है पानी में ही घुलकर यह गंगा के जल का भाग बन जाता है जिसे लोग सिर पर चढ़ाते हैं और उसका आचमन करते हैं। 'काँटा ही काँटे को निकालता है' यह सभी जानते हैं।

दर्शन-विशुद्धि भावना और दर्शन में एक मौलिक अन्तर है। दर्शनविशुद्धि में केवल तत्व चिन्तन ही होता है, विषयों का चिन्तन नहीं चलता, किन्तु दर्शन में विषय चिन्तन भी सम्भव है।

दर्शनविशुद्धि भावना चार स्थितियों में भायी जा सकती है। प्रथम मरण के समय, द्वितीय भगवान के सम्मुख, तृतीय अप्रमत्त अवस्था में और चौथे कषाय के मन्दोदय में।

तीर्थंकर प्रकृति पुण्य का फल है "पुण्यफला अरहंता।" किन्तु इसके लिये पुण्य कार्य पहले होना चाहिए। प्रवृत्ति ही निवृत्ति की साधिका है। राग से ही वीतरागता की ओर प्रयाण होता है। एक सज्जन ने मुझ से कहा-महाराज, आप एक लंगोटी लगा लें तो अच्छा हो, क्योंकि आपके रूप को देखकर राग की उत्पत्ति होती है।" मैंने कहा - "भैया, तुम जो चमकीले-भड़कीले कपड़े पहिनते हो, उससे राग बढ़ता है अथवा यथाजात अवस्था से।" नग्न दिगम्बर रूप तो परम वीतरागता का साधक है। विशुद्धि में आवरण कैसा ? विशुद्धि में तो किसी भी प्रकार का बाहरी आवरण बाधक है साधक तो वह किसी अवस्था में हो नहीं सकता। अन्तरंग का दर्शन तो यथाजात रूप द्वारा ही हो सकता है, फिर भी यदि इस रूप को देखकर किसी को राग का प्रादुर्भाव हो, तो मैं क्या कर सकता हूँ ? देखने वाला भले ही मेरे रूप को न देखना चाहे तो अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ले। पानी किसी को कीचड़ थोड़े ही बनाना चाहता है। जिसकी इच्छा कीचड़ बनने की हुई उसकी सहायता अवश्य कर देता है। पानी एक ही है। जब वह मिट्टी में गिरता है तो उसे कीचड़ बना देता है। जब वह बालू में गिरता है तो उसके रूप रंग को निखार देता है। इसी प्रकार नग्न रूप वीतरागता को पुष्ट करता है किन्तु यदि कोई उससे राग का पाठ ग्रहण करना चाहे , तो ग्रहण करे, इसमें उस नग्न रूप का क्या दोष ? ये तो दृष्टि का खेल है।

❐

विनयावनति

⁜ विनय जब अंतरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है, आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्भूत होती है और व्यवहार में प्रदर्शित होती है।

विनय का महत्व अनुपम है। यह एक सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर साधक मुक्ति की मंजिल तक पहुँच सकता है। विनय आत्मा का गुण है और ऋजुता का प्रतीक है। यह विनय तत्व-मंथन से ही उपलब्ध हो सकता है। विनय का अर्थ है सम्मान, आदर, पूजा आदि। विनय से हम आदर और पूजा तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही सभी विरोधियों पर

विजय भी प्राप्त कर सकते हैं। क्रोधी, कामी, मायावी, लोभी सभी विनय द्वारा वश में किये जाते हैं। विनयी दूसरों को भली भाँति समझ पाता है और उसकी चाह यही रहती है कि दूसरा भी अपना विकास करे। अविनय में शक्ति का बिखराव है विनय में शक्ति का केन्द्रीकरण है। कोई आलोचना भी करे तो हम उसकी चिन्ता न करें। विनयी आदमी वही है जो गाली देने वाले के प्रति भी विनय का व्यवहार करता है।

एक जंगल में दो पेड़ खड़े हैं - एक बड़ का और दूसरा बेंत का। बड़ का पेड़ घमण्ड में चूर है। वह बेंत के पेड़ से कहता है - तुम्हारे जीवन का क्या लाभ है? तुम किसी को छाया तक नहीं दे सकते और फल और फूल का तो तुम पर नाम ही नहीं। मुझे देखो, मैं कितनों को छाया देता हूँ यदि मुझे कोई काट भी ले तो मेरी लकड़ी से बैठने के लिए सुन्दर आसनों का निर्माण हो सकता है। तुम्हारी लकड़ी से तो दूसरों को पीटा ही जा सकता है।" सब कुछ सुनकर भी बेंत का पेड़ मौन रहा। थोड़ी देर में मौसम ऐसा हो जाता है कि तूफान और वर्षा दोनों साथ-साथ प्रारम्भ हो जाते हैं। कुछ ही देर में बेंत का पेड़ साष्टांग दण्डवत् करने लगता है, झुक जाता है किन्तु बड़ का पेड़ ज्यों का त्यों खड़ा रहा। देखते-देखते ही पाँच मिनिट में तूफान ने उसे उखाड़ फेंका। बेंत का पेड़ जो झुक गया था, तूफान के निकल जाने पर फिर ज्यों का त्यों खड़ा हो गया। विनय की जीत हुई; अविनय हार गया। जो अकड़ता है, गर्व करता है उसकी दशा बिगड़ती ही है।

हमें शब्दों की विनय भी सीखना चाहिए। शब्दों की अविनय से कभी-कभी बड़ी हानि हो जाती है। एक भारतीय सज्जन एक बार अमेरिका गये। वहाँ उन्हें एक सभा में बोलना पड़ा। लोग उन्हें देखकर हंसने लगे और जब वे बोलने के लिए खड़े हुये तो हंसी और अधिक बढ़ने लगी। उन भारतीय सज्जन को थोड़ा क्रोध आ गया; मंच पर जाते ही उनका पहला वाक्य था। "पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख होते हैं।" अब क्या था ? सारी सभा में हलचल मच गई और सभा अनुशासन से बाहर हो गई। पर तत्काल ही उन भारतीय सज्जन ने थोड़ा विचार कर कहना शुरू किया - "क्षमा करें, पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख नहीं होते" इन शब्दों को सुनकर सभा में फिर से शान्ति हो गई और सब लोग यथास्थान हो गये। देखो, अर्थ में कोई अन्तर नहीं था; केवल शब्द विनय द्वारा वह भारतीय सबको शान्त करने में सफल हो गया।

विनय जब अन्तरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है। आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्भूत होती है और व्यवहार में भी प्रदर्शित होती है। विनय गुण समन्वित व्यक्ति की केवल यही भावना होती है कि सभी में यह गुण उद्भूत हो जाये। सभी विकास की चरम सीमा प्राप्त कर लें।

मुझसे एक सज्जन ने एक दिन प्रश्न किया, "महाराज, आप अपने पास आने वाले व्यक्ति से बैठने की भी नहीं पूछते। बुरा लगता है। आप में इतनी भी विनय नहीं, महाराज।" मैंने उनकी बात बड़े ध्यान से सुनी और कहा। "भैया, एक साधु की विनय और आपकी विनय एक सी कैसी हो सकती है ? आपको मैं कैसे कहूँ आइये बैठिये। क्या यह स्थान मेरा है ? और मान लो कोई केवल दर्शन मात्र के लिए आया हो तो ? इसी तरह मैं किसी से जाने की भी कैसे कह सकता हूँ ? मैं आने-जाने की अनुमोदना कैसे कर सकता हूँ ? कोई मान लो रेल या मोटर से प्रस्थान करना चाहता हो तो मैं उन वाहनों की अनुमोदना कैसे करूँ जिनका मैं वर्षों पूर्व त्याग कर चुका हूँ और मान लो कोई केवल परीक्षा करना चाहता हो तो, उसकी विजय हो गयी और मैं पराजित हो जाऊँगा। आचार्यों का उपदेश मुनियों के लिए केवल इतना ही है कि वे हाथ से कल्याण का संकेत करें और मुख का प्रसाद बिखेर दें। इससे ज्यादा उन्हें कुछ और नहीं करना है।

"मैत्री, प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिक क्लिश्यमानाविनेयेषु।" यह सूत्र है। तब मुनि आपके प्रति कैसे अविनय की भावना रख सकता है। उसे तो कोई गाली भी दे तो भी वह सबके प्रति मैत्री भाव ही रखता है। जंगल में दंगल नहीं करता, मंगल में अमंगल नहीं करता। वह तो सभी के प्रति मंगल भावना से ओतप्रोत है।

सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताकूं सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी।।
(छहढाला/पाँचवीं ढाल)

साधु की मुद्रा तो ऐसी वीतरागामय होती है जो दूसरों के आत्मानुभव का प्रबल साधन बन जाती है।

फिर एक बात और भी है। अगर किसी को बिठाना दूसरों को अनुचित मालूम पड़े अथवा स्थान इतना भर जाये कि फिर कोई जगह ही अवशेष न रहे तो ऐसे में मुनि महाराज वहाँ से उठना पसन्द करेंगे अथवा उपसर्ग समझ कर बैठे रहेंगे तो भी उनकी मुद्रा ऐसी ही होगी जिससे देखने वाला भी उनकी साधना और तपस्या को समझ कर शिक्षा ले सके। बिच्छू के पास एक डंक होता है। जो व्यक्ति उसे पकड़ने का प्रयास करता है, वह उसको डंक मार ही देता है। एक बार ऐसा ही हुआ। एक मनुष्य जा रहा था, उसने देखा, कीचड़ में एक बिच्छू फंसा हुआ है। उसने उसे हाथ से जैसे ही बाहर निकालना चाहा, बिच्छू ने डंक मारने रूप प्रसाद ही दिया, और कई बार उसे निकालने की कोशिश में वह डंक मारता रहा, तब लोगों ने उससे कहा-"बावले हो गये हो। ऐसा क्यों किया तुमने ?" "अरे भाई! बिच्छू ने अपना काम किया और मैंने अपना काम किया, इसमें मेरा बावलापन क्या ?" उस आदमी ने उत्तर दिया।

इसी प्रकार मुनिराज भी अपना काम करते हैं। वे तो मंगल की कामना करते हैं और गाली देने वाला उन्हें गाली देने का काम करता है। तब तुम कैसे कह सकते हो कि साधु किसी के प्रति अविनय का भाव रख सकता है

शास्त्रों में अभावों की बात आई है। जिसमें प्रागभाव का तात्पर्य है "पूर्व पर्याय में वर्तमान का अभाव"और प्रध्वंसाभाव का अभिप्राय है "वर्तमान पर्याय का भावी पर्याय में अभाव"। इसका मतलब है कि जो उन्नत है वह गिर भी सकता है और जो पतित है वह उठ भी सकता है। और यही कारण है कि सभी आचार्य महान तपस्वी भी त्रिकालवर्ती तीर्थंकरों को नमोस्तु प्रस्तुत करते हैं और भविष्य काल के तीर्थंकरों को नमोस्तु करने में भावी नय की अपेक्षा सामान्य संसारी जीव भी शामिल हो जाते हैं तब किसी की अविनय का प्रश्न ही नहीं है। आपकी अनंत शक्ति को भी सारे तपस्वियों ने पहिचान लिया है, चाहे आप पहिचाने अथवा नहीं। आप सभी में केवल ज्ञान की शक्ति विद्यमान है यह बात भी कुन्दकुन्दादि महान् आचार्यों द्वारा पहचान ली गई है।

अपने विनय गुण का विकास करो। विनय गुण से असाध्य कार्य भी सहज साध्य बन जाते हैं। यह विनय गुण ग्राह्य है, उपास्य है, आराध्य है। भगवान महावीर कहते हैं- "मेरी उपासना चाहे न करो, विनय गुण की उपासना जरूर करो। विनय का अर्थ यह नहीं है कि आप भगवान के समक्ष तो विनय करें और आस-पड़ौस में अविनय का प्रदर्शन करें। अपने पड़ौसी की भी यथायोग्य विनय करो। कोई घर पर आ जाये तो उसका सम्मान करो। "मानेन तृप्ति न तु भोजनेन" अर्थात् सम्मान से तृप्ति होती है, भोजन से नहीं। अतः विनय करना सीखो, विनय गुण आपको सिद्धत्व प्राप्त करा देगा।

❐

सुशीलता

⁜ निरतिचार शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालन में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी छाप पड़ती है कि खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते हैं वे भी तिर जाते हैं।

शील से अभिप्राय स्वभाव से है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए निरतिचार व्रत का पालन करना ही "शीलव्रतेष्वनतिचार" कहलाता है। व्रत से अभिप्राय नियम, कानून अथवा अनुशासन से है। जिस जीवन में अनुशासन का अभाव है वह जीवन निर्बल है। निरतिचार व्रत पालन से एक अद्‌भुत बल की प्राप्ति जीवन में होती है। निरतिचार का मतलब ही यह है कि जीवन अस्त-व्यस्त न हो, शान्त

और सबल हो।

रावण के विषय में यह विख्यात है कि वह दुराचारी था किन्तु वह अपने जीवन में एक प्रतिज्ञा से बद्ध भी था। उसका व्रत था कि वह किसी नारी पर बलात्कार नहीं करेगा, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे नहीं भोगेगा और यही कारण था कि वह सीता को हरण तो कर लाया किन्तु उनका शील भंग नहीं कर पाया। इसका कारण केवल उसका व्रत था, उसकी प्रतिज्ञा थी। यद्यपि यह सही है कि यदि वह सीता जी से बलात्कार का प्रयास करता तो भस्मसात हो जाता किन्तु उसकी प्रतिज्ञा ने उसे ऐसा करने से रोक लिया।

निरतिचार शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालन में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी छाप पड़ती है कि खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते हैं बिना प्रभावित हुये नहीं रह सकते। जैसे कस्तूरी को अपनी सुगन्ध के लिए किसी तरह की प्रतिज्ञा नहीं करनी पड़ती, उसकी सुगन्ध तो स्वतः ही चारों ओर व्याप्त हो जाती है। वैसी ही इस व्रत की महिमा है।

'अतिचार' और 'अनाचार' में भी बड़ा अन्तर है। 'अतिचार' दोष है जो लगाया नहीं जाता, प्रमादवश लग जाता है किन्तु अनाचार तो सम्पूर्ण व्रत को विनष्ट करने की क्रिया है। मुनिराज निरतिचार व्रत के पालन में पूर्ण सचेत रहते हैं जैसे कई चुंगी चौकियाँ पार कर गाड़ी यथास्थान पहुँच जाती है उसी प्रकार मुनिराज को भी बत्तीस अन्तराय टालकर निर्दोष आहार और अन्य उपकरण आदि ग्रहण करना पड़ते हैं।

निरतिचार व्रत पालन की महिमा अद्‌भुत है। एक भिक्षुक था। झोली लेकर एक द्वार पर पहुँचा रोटी माँगने। रूखा जवाब मिलने पर भी नाराज नहीं हुआ बल्कि आगे चला गया। एक थानेदार को उस पर तरस आ गया और उसने उस भिक्षुक को रोटी देने के लिए बुलाया। पर भिक्षुक थोड़ा आगे जा चुका था इसलिए उसने एक नौकर को रोटी देने के लिए भेजा। "मैं रिश्वत का अन्न नहीं खाता भइया !" ऐसा कह कर भिक्षुक आगे बढ़ गया। नौकर ने वापिस आकर थानेदार से भिक्षुक द्वारा कही बात सुना दी और वे शब्द उस थानेदार के मन में गहरे उतर गये। उसने सदा-सदा के लिए रिश्वत लेना छोड़ दिया। भिक्षुक की प्रतिज्ञा ने, उसके निर्दोष व्रत ने थानेदार की जिन्दगी सुधार दी। जो लोग गलत तरीकों से रुपये कमाते हैं वे दान देनें में अधिक उदारता दिखाते हैं। वे सोचते हैं कि इसी तरह से थोड़ा धर्म इकट्ठा कर लिया जाये किन्तु धर्म ऐसे नहीं मिलता। धर्म तो अपने श्रम की निर्दोष रोटी कमा कर दान देने से होता है।

अँग्रेजी में एक कहावत है कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता, उससे भी ऊंचा एक जीवन है जो व्रत साधना से उसे प्राप्त हो सकता है। आज हम मात्र शरीर के भरण

पोषण में लगे हैं। व्रत, नियम और अनुशासन के प्रति हमारी रुचि होनी चाहिए। अनुशासनहीन व्यक्ति सबसे गया बीता व्यक्ति है। अरे भइया ! तीर्थंकर भी अपने जीवन में व्रतों का निर्दोष पालन करते हैं। हमें भी करना चाहिए।

हमारे व्रत ऐसे हों जो स्वयं को सुखकर हों और दूसरों को भी सुखकर हों। एक सज्जन जो संभवतः ब्राह्मण थे मुझसे कहने लगे-'अरे महाराज, आप तो बड़े निर्दयी हैं।' देने वाले दाता का आप आहार नहीं लेते। तो मैंने उन्हें समझाया-भइया ! देने वाले और लेने वाले दोनों व्यक्तियों के कर्म का क्षयोपशम होना चाहिए। दाता का तो दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है पर लेने वाले का भी भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना चाहिए। दाता लेने वाले के साथ जबर्दस्ती नहीं कर सकता क्योंकि लेने वाले के भी कुछ नियम, प्रतिज्ञायें होती हैं जिन्हें पूरा करके ही वह आहार ग्रहण करता है।

सारांश यही है कि सभी को कोई न कोई व्रत अवश्य लेना चाहिये, ये व्रत नियम बड़े मौलिक हैं। सभी यदि व्रत ग्रहण करके उनका निर्दोष पालन करते रहें तो कोई कारण नहीं कि सभी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न न हों।

❐

निरन्तर ज्ञानोपयोग

⁂ ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है उसे सुखाया नहीं जा सकता; बदला जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान का नाश नहीं किया जा सकता है उसे स्व-पर कल्याण की दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है। यही ज्ञानोपयोग है।

'अभीक्ष्णज्ञानोपयोग' शब्द तीन शब्द से मिलकर बना है --अभीक्ष्ण+ज्ञान+उपयोग अर्थात् निरन्तर ज्ञान का उपयोग करना ही अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। आत्मा के अनन्त गुण हैं और उनके कार्य भी अलग-अलग हैं। ज्ञान गुण इन सभी की पहिचान कराता है। सुख जो आत्मा का एक गुण है उसकी अनुभूति भी ज्ञान द्वारा ही संभव है। ज्ञान ही वह गुण है जिसकी सहायता से पाषाण में से स्वर्ण को, खान में से हीरा, पन्ने को पृथक् किया जा सकता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति, समुन्नति होती है उसका विकास किया जा सकता है।

आज तक इस ज्ञान धारा का प्रायः दुरुपयोग ही किया गया है। ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गंगा नदी के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता; केवल उस प्रवाह के मार्ग को हम बदल सकते हैं उसी प्रकार ज्ञान के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता केवल उसे स्व-पर हित के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। ज्ञान का दुरुपयोग होना

विनाश है और ज्ञान का सदुपयोग करना ही विकास है, सुख है, उन्नति है। ज्ञान के सदुपयोग के लिए जागृति परम आवश्यक है। हमारी हालत उस कबूतर की तरह हो रही है जो पेड़ पर बैठा है और पेड़ के नीचे बैठी हुई बिल्ली को देखकर अपना होश-हवाश खो देता है। अपने पंखों की शक्ति को भूल बैठता है और स्वयं घबराकर उस बिल्ली के समक्ष गिर जाता है तो उसमें दोष कबूतर का ही है। हम ज्ञान की कदर नहीं कर रहे हैं बल्कि जो ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं उन ज्ञेय पदार्थों की कदर कर रहे हैं । होना इससे विपरीत चाहिए था अर्थात् ज्ञान की कदर होनी चाहिये।

ज्ञेयों के संकलन मात्र में यदि हम ज्ञान को लगा दें और उनके समक्ष अपने को हीन मानने लग जायें तो यह ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञान का सदुपयोग तो यह है कि हम अन्तर्यात्रा प्रारम्भ कर दें और वह अन्तर्यात्रा एक बार नहीं, दो बार नहीं, बार-बार अभीक्ष्ण करने का प्रयास करें। यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग केवल ज्ञान को प्राप्त कराने वाला है आत्म-मल को धोने वाला है। जैसे प्रभात बेला की लालिमा के साथ ही बहुत कुछ अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा आत्मा का अंधकार भी विनष्ट हो जाता है और केवल ज्ञान रूपी सूर्य उदित होता है। अतः ज्ञानोपयोग सतत चलना चाहिये।

'उपयोग' का दूसरा अर्थ है चेतना। अर्थात् अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अपनी खोज की, चेतना की उपलब्धि का अमोघ साधन है। इसके द्वारा जीव अपनी असली सम्पत्ति को बढ़ाता है, उसे प्राप्त करता है उसके पास पहुँचता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञान मात्र नहीं है। शब्दों की पूजा करने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती सरस्वती की पूजा का मतलब तो अपनी पूजा से है, स्वात्मा की उपासना से है। शाब्दिक ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है उससे सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। शाब्दिक ज्ञान तो केवल शीशी के लेबिल की तरह है यदि कोई लेबिल मात्र घोंट कर पी जाये तो क्या उससे स्वास्थ्य लाभ हो जायेगा ? क्या रोग मिट जायेगा ? नहीं कभी नहीं। अक्षर ज्ञानधारी बहुभाषाविद् पण्डित नहीं है। वास्तविक पण्डित तो वह है जो अपनी आत्मा का अवलोकन करता है। "स्वात्मानं पश्यति यः सः पण्डितः।" पढ़-पढ़ के पण्डित बन जाये किन्तु निज वस्तु की खबर न हो तो क्या वह पण्डित है ? अक्षरों के ज्ञानी पण्डित अक्षर का अर्थ भी नहीं समझ पाते। 'क्षर' अर्थात् नाश होने वाला और 'अ' के मायने 'नहीं' अर्थात् मैं अविनाशी हूँ, अजर-अमर हूँ ; यह अर्थ है अक्षर का, किन्तु आज का पंडित केवल शब्द को पकड़ कर भटक जाता है।

शब्द तो केवल माध्यम है अपनी आत्मा को जानने के लिए, अन्दर जाने के लिए किन्तु हमारी दशा उस पंडित की तरह है जो तैरना न जानकर अपने जीवन से हाथ धो बैठा था। एक पण्डित काशी से पढ़कर आये। देखा, नदी किनारे मल्लाह भगवान की स्तुति में संलग्न है। बोले- "ए मल्लाह ! ले चलेगा नाव में, नदी के पार।" मल्लाह ने उसे नाव में बिठा

लिया। अब चलते चलते पंडित जी रौब झाड़ने लगे अपने अक्षर ज्ञान का। मल्लाह से बोले-"कुछ पढ़ा-लिखा भी है ? अक्षर ज्ञान जानता है ?" मल्लाह तो पढ़ा लिखा था ही नहीं सो कहने लगा पंडित जी मुझे अक्षर ज्ञान नहीं है। पंडित बोले तब तो बिना पढ़े लिखे तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ गया। अभी नदी में थोड़े और चले थे कि अचानक पूर आ गया, पंडित जी घबराने लगे। नाविक बोला पंडित जी मैं अक्षर लिखना नहीं जानता किन्तु तैरना जरूर जानता हूँ। अक्षर ज्ञान न होने से मेरा आधा जीवन गया किन्तु तैरना न जानने से तो आपका सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

हमें तैरना भी आना चाहिये। तैरना नहीं आयेगा तो हम संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते। अतः दूसरों का सहारा ज्यादा मत ढूँढो। शब्द भी एक तरह का सहारा है। उसके सहारे, अपना सहारा लो। अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करो।

ज्ञेयों का संकलन मात्र तो ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञेयों में मत उलझो, ज्ञेयों के ज्ञाता को प्राप्त करो। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से ही मैं कौन हूँ, इसका उत्तर प्राप्त हो सकता है।

परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जु मो बिखै।।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित पिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुण-करण्ड च्युत पुनि कलनि तैं।।
(छहढाला / छठवीं ढाल/१०)

शुद्धोपयोग की यह दशा इसी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अतः मात्र साक्षर बने रहने से कोई लाभ नहीं। 'साक्षर' का विलोम 'राक्षस' होता है। साक्षर मात्र बने रहने से राक्षस बन जाने का भी भय है। अतः अन्तर्यात्रा भी प्रारम्भ करें, ज्ञान का निरन्तर उपयोग करें अपने को शुद्ध बनाने के लिए।

हम अमूर्त है, हमें छुआ नहीं जा सकता, हमें चखा नहीं जा सकता, हमें सूंघा नहीं जा सकता, किन्तु फिर भी हम मूर्त बने हुये हैं क्योंकि हमारा ज्ञान मूर्त में संजोया हुआ है। अपने उस अमूर्त स्वरूप की उपलब्धि ज्ञान की धारा को अन्दर आत्मा की ओर मोड़ने पर ही सम्भव है।

संवेग

⁂ जिस प्रकार ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण श्रृंगार अर्थ-हीन है, मूर्ति के न होने पर जैसे मंदिर की कोई शोभा नहीं है उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।

संवेग का मतलब है संसार से भयभीत होना, डरना। आत्मा के अनन्त गुणों में यह संवेग भी एक गुण है। पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं। कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है- सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। संवेग, सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों में से एक है। जैसे ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण श्रृंगार अर्थ-हीन है, मूर्ति के न होने पर जैसे मंदिर की कोई शोभा नहीं है उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।

संवेग एक उदासीन दशा है। जिसमें रोना भी नहीं है, हंसना भी नही है, पलायन भी नहीं है, बैठना भी नही है, दूर भी नहीं हटना है और आलिंगन भी नहीं करना है। यह जो आत्मा की अनन्य स्थिति है। वह सद्गृहस्थ से लेकर मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ मुनि महाराज तक में प्रादुर्भूत होती है। मुनि पग - पग पर डरता है और सावधान रहकर जीवन जीता है। वह अपने आहार-विहार में, उठने - बैठने और लेटने की सभी क्रियाओं में सदैव जाग्रत रहता है सजग रहता है यदि ऐसा न हो तो वह साधु न होकर स्वादु बन जायेगा। साधु का रास्ता तो मनन और चिंतन करने का है। उसकी यात्रा अपरिचित वस्तु (आत्मा) से परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट प्रयास है। ऐसे संवेग समन्वित साधु के दर्शन दुर्लभ हैं। आप कहते हैं कि हम वीर की सन्तान हैं बात सही है। आप वीर की सन्तान तो अवश्य हैं किन्तु उनके अनुयायी नहीं। सही अर्थों में आप वीर की सन्तान तभी कहे जायेंगे जब उनके बताये मार्ग का अनुसरण करेंगे।

संवेग का प्रारम्भ कहाँ ? जब दृष्टि नासाग्र हो; केवल अपने लक्ष्य की ओर हो, और अविराम गति से मार्ग पर चले। आपने सर्कस देखा होगा, सर्कस में तार पर चलने वाला न तो ताली बजाने वालों की ओर देखता है और न लाठी लेकर खड़े व्यक्ति की ओर देखता है। उसका उद्देश्य इधर-उधर देखना नहीं है उसका उद्देश्य तो एकमात्र संतुलन बनाये रखना और अपने लक्ष्य पर पहुँचना होता है। यही बात संवेग की है।

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं होता। संसार से 'भीति' सम्यग्दर्शन के अनन्य अंग है। वीतराग सम्यग्दर्शन में ये 'संवेग' अधिक घनीभूत होता है। संवेग अनुभव

और श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है। इस संवेग की प्राप्ति अति दुर्लभ है। वीतरागता से पूर्व यह प्रस्फुटित होता है और फिर वीतरागता उसका कार्य बन जाती है। संवेग के प्रादुर्भूत होने पर सभी बाहरी आकाँक्षायें छूट जाती हैं, जहां संवेग होता है वहाँ विषयों की ओर रुचि नहीं रह जाती, उदासीनता आ जाती है।

भरत चक्रवर्ती का वर्णन सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। उनके भोंगों का वर्णन तो किया जाता है, किन्तु उनकी उदासीनता की बात कोई नहीं करता। एक व्यक्ति अपने बारह बच्चों के बीच रहकर बड़ा दुःखी होता है। उसकी पत्नी उससे कहती है-"भरत जी इतने बड़े परिवार के बीच कैसे रहते होंगे। जहाँ छयानवे हजार रानियाँ, अनेकों बच्चे और अपार सम्पदा थी। उनके परिणामों में तो कभी क्लेश हुआ हो ऐसा सुना ही नहीं गया। " वह व्यक्ति भरत जी की परीक्षा लेने पहुँच जाता है, भरत जी उससे सारी बात सुनकर उसे अपने रनिवास में भेज देते हैं। उस व्यक्ति के हाथ में तेल से भरा हुआ कटोरा रख दिया जाता है और कह दिया जाता है कि "सब कुछ देखते जाओ लेकिन कटोरे में से एक बूँद भी नीचे नहीं गिरनी चाहिए अन्यथा मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा "। वह व्यक्ति सब कुछ देख आया पर उसका देखना न देखने के बराबर था, सारे समय बूँद न गिर जाने का भय बना रहा। तब भरतजी ने उसे समझाया 'मित्र जागृति लाओ, सोचो, समझो। ये नव निधियाँ, चौदह रत्न, ये छयानवें हजार रानियाँ ये सब मेरी नहीं हैं। मेरी निधि तो मेरे अंतरंग में छिपी हुई है- ऐसा विचार करके ही मैं इन सबके बीच शान्त भाव से रह रहा हूँ।"

रत्नत्रय ही हमारी अमूल्य निधि है। इसे ही बचाना है । इसको लूटने के लिये कर्म चोर सर्वत्र घूम रहे हैं। जाग जाओ, सो जाओगे तो तुम्हारी निधि ही लुट जायेगी।

" कर्म चोर चहुँ ओर सरबस लूटें सुध नहीं "

संवेगधारी व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। चाहे वह कहीं भी रहे। किन्तु संवेग से रहित व्यक्ति स्वर्गिक सुखों के बीच भी दुःख का अनुभव करता है और दुःखी ही रहता है।

❐

त्यागवृत्ति

⁜ त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहचान जब हो जाती है तब विषय सामग्री निरर्थक लगती है और उसका त्याग सहज सरलता से हो जाता है।

यथाशक्ति त्याग को "शक्तितस्त्याग" कहते हैं। "शक्ति अनुल्लंघ्य यथाशक्ति" अर्थात् शक्ति की सीमा को पार न करना और साथ ही अपनी शक्ति को नहीं छिपाना इसे यथाशक्ति कहते हैं और इस शक्ति के अनुरूप त्याग करना ही शक्तित्याग कहा जाता है।

भारत में जितने भी देवों के उपासक हैं, चाहे वे कृष्ण के उपासक हों, चाहे वे राम के उपासक हों अथवा बुद्ध के उपासक हों, सभी त्याग को सर्वाधिक महत्व देते हैं। ऐसे ही भगवान महावीर के भी उपासक हैं। किन्तु महावीर के उपासकों की विशेषता यही है, कि उनके त्याग में शर्त नहीं है। हठग्राहिता नहीं है। यदि त्याग में कोई शर्त है तो वह त्याग महावीर का कहा हुआ त्याग नहीं है।

सामान्य रूप से त्याग की आवश्यकता हर क्षेत्र में है। रोग की निवृत्ति के लिए, स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए, जीवन जीने के लिए और इतना ही नहीं, मरण के लिए भी त्याग की आवश्यकता है। जो ग्रहण किया है उसी का त्याग होता है, पहले ग्रहण किया फिर त्याग यह क्रम है। ग्रहण होने के कारण ही त्याग का प्रश्न उठता है। अब त्याग किसका किया जाये? तो अनर्थ की जड़ का त्याग, हेय का त्याग किया जाये। कूड़ा-कचरा, मल आदि ये सब हेय पदार्थ हैं। इन हेय पदार्थों के त्याग में कोई शर्त नहीं होती; न ही कोई मुहूर्त निकलवाना होता है क्योंकि इनके त्याग के बिना न सुख है न शान्ति। इन्हें त्यागे बिना तो जीवन जीना भी असम्भव हो जायेगा।

त्याग करने में दो बातों का ध्यान रखना परम अपेक्षणीय है। पहला यह कि दूसरों की देखा देखी त्याग नहीं करना और दूसरा ये कि अपनी शक्ति की सीमा का उल्लंघन नहीं करना क्योंकि इससे सुख के स्थान पर कष्ट की ही आशंका अधिक है।

त्याग में कोई शर्त नहीं होनी चाहिए किन्तु हमेशा से आपका त्याग ऐसा ही शर्तयुक्त रहा है। दान के समय भी आपका ध्यान आदान में लगा रहता है। यदि कोई व्यक्ति सौ रुपये के सवा सौ रुपये प्राप्त करने के लिए त्याग करता है तो यह कोई त्याग नहीं माना जायेगा। यह दान नहीं आदान है। एक विद्वान ने लिखा है कि दान तो ऐसा देना चाहिये कि जो दूसरे हाथ को भी मालूम न पड़े। यदि त्याग किये हुये पदार्थ में लिप्सा लगी रही इच्छा बनी रही, यदि इन पदार्थ के भोगने की वासना हमारे मन में चलती रही और अधिक प्राप्ति की आकांक्षा बनी रही तो वह त्याग नहीं कहलायेगा।

बाह्य मलों के साथ-साथ अंतरंग में रागद्वेष रूपी मल भी विद्यमान है जो हमारी आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ है। इसका त्याग करना/छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। ऐसे पदार्थ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है जिनसे रागद्वेष, विषय-कषायों की पुष्टि होती है।

अजमेर में एक सज्जन मेरे पास आये और बोले-"महाराज, मेरा तो भाव पूजा में मन लगता है, द्रव्य पूजन में नहीं।" तो हमने कहा भइया ! ये तो दान से बचने के लिए पगडण्डियाँ हैं। पेट पूजा के लिए कोई भाव-पूजा की बात नहीं करता। इसी तरह भगवान की पूजा के लिए सस्ते पदार्थों का उपयोग करना और खाने-पीने के लिए उत्तम से उत्तम पदार्थ लेना यह भी सही त्याग नहीं है। कई लोग तो ऐसा सोचते हैं कि भगवान महावीर ने तो नासा-इन्द्रिय को जीत ही लिया है। तब उनके लिए सुरभित सुगन्धित पदार्थ क्यों चढ़ाना, ये हमारे मन की विचित्रता है। पूजा का मतलब तो ये है कि भगवान के सम्मुख गद्‌गद् होकर विषयों और कषायों का समर्पण किया जाये। जब तक इस प्रकार का समग्र समर्पण नहीं होता तब तक पूजा की सार्थकता नहीं है।

त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहिचान जब हो जाती है, उस समय विषय सामग्री कूड़ा-कचरा बन जाती है और उसका त्याग सहज हो जाता है। इस कूड़े कचरे के हटने पर अपनी अंतरंग की मणि अलौकिक ज्योति के साथ प्रकाशित हो उठती है। त्याग से ही आत्मारूपी हीरा चमक उठता है। जैसे कूड़ा-कचरा जब साफ हो जाता है तब जल निर्बाध प्रवाहित होने लगता है इसी प्रकार विषय-भोगों का कूड़ा-कचरा जब हट जाता है तो ज्ञान की धारा निर्बाध अन्दर की ओर प्रवाहित होने लगती है।

"आतम के अहित विषय-कषाय इनमें मेरी परिणति न जाये"

(दर्शन स्तुति)

"यह राग आग दहै सदा तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अबतो त्याग निज पद बेइये।।"

(छहढाला / छठवीं ढाल)

ये राग तपन पैदा करता है। विषयकषाय हमें जलाने वाले हैं। यह हमारा पद नहीं है। यह 'पर' पद है। अपने पद में आओ। आज तक हम आस्रव में जीवित रहे हैं निर्जरा कभी हमारा लक्ष्य नहीं रहा। इसलिए दुःख उठाते रहे। जब तक हम भोगों का विमोचन नही करेंगे, उपास्य नहीं बन पायेंगे।

योग जीवन है, भोग मरण है। योग सिद्धत्व का मार्ग प्रशस्त करने वाला है और भोग नरक की ओर जाने वाला है आस्था जागृत करो। विश्वास/आस्था के अभाव में ही हम स्व-पद की ओर प्रयाण नहीं कर पाये हैं। त्याग के प्रति अपनी आस्था मजबूत करो, ताकि शाश्वत सुख को प्राप्त कर सको।

❐

सत्-तप

⁂ तप, दोषों की निवृत्ति के लिए परम रसायन है। मिट्टी भी तपकर ही पूज्य बनती है। अग्नि की तपन को पार करके ही वह पात्र के रूप में उपयोगी बन पाती है।

भारत भूमि का एक-एक कण तपस्वियों और महर्षियों की पद-रज से पुनीत बन चुका है। तप की प्रशंसा केवल इन महर्षियों, योगियों और तपोपूत पुरुषों द्वारा ही नहीं गायी गयी; अन्य पुरुषों, कवियों ने भी तप की यशोगाथा गायी है। राष्ट्र कवि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है-

नारायण नारायण धन्य है नर साधना।
इन्द्रपद ने की है जिसकी शुभाराधना।।

भोगासक्त देवों ने भी इस तप-साधना की प्रशंसा की है। वे स्वर्गों से उतर कर उनका कीर्तन- पूजन करने के लिए आते हैं जो नर से नारायण (भगवान) बनने की साधना में लगे हैं।

तप दोषों की निवृत्ति के लिए परम रसायन है । मिट्टी भी तप कर ही पूज्य बनती है। जब वह अग्नि की तपन को पार कर लेती है तब पक्के पात्र घड़े आदि का रूप धारण कर लेती है और आदर प्राप्त करती है। कहा भी है पहले कष्ट फिर मिष्ट। पदार्थ की महत्ता वेदना सहकर ही होती है।

आप दुःखी होने पर सुख का रास्ता ढूँढते हैं और साधु समागम में आते हैं। साधु-समागम में सुख मानकर भी यदि कुछ प्राप्त नहीं करते तो आपका आना व्यर्थ ही होगा। जिस भूतल पर हम रहते हैं। वह एक प्रकार का जंकशन है। प्रत्येक दिशा में जहाँ से मार्ग जाते हैं। यहाँ से नरक की ओर यात्रा की जा सकती है, स्वर्ग जाया जा सकता है, पशु-योनि को पाया जा सकता है; मनुष्य भी पुनः हुआ जा सकता है और परमात्मा पद की उपलब्धि भी की जा सकती है। जहाँ भी जाना चाहें जा सकते हैं । साधना स्वाश्रित है।

गृहस्थी में आतप है, कष्ट है, छटपटाहट है। जैसे पूड़ी कड़ाही में छटपटाती है, वही दशा गृहस्थ की होती है। तप द्वारा उस कष्ट का निवारण संभव है। एक बार गृहस्थ अवस्था में मेरी बाँह मोच गयी थी, मैने "स्लोन्स वाम" लगायी। उससे सारा दर्द धीरे-धीरे जाता रहा। इसी तरह संसार की वेदना को मिटाने के लिए तप रूपी बाम का उपयोग करना होगा। कार्य सिद्धि के लिए तप अपनाना ही होगा । लोहे की छड़ आदि जब टेढ़ी हो जाये तो

केवल तपाकर ही उसे सीधा बनाया जा सकता है अन्यथा सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार विषय और कषाय के टेढ़ेपन की निवृत्ति के लिए आत्मा को तपाना ही एकमात्र अव्यर्थ साधन है।

इच्छा का निरोध कौन करे ? वानर ? नहीं नर , केवल नर । वानर तो पशु है। नारकी भी नहीं कर सकते । देव भी नहीं कर सकते। ये सब तो अपनी गलती का प्रायश्चित कर सकते हैं। साधना तो केवल नर ही कर सकता है। धन्य है नरसाधना ! नर-पद एक ऐसा मैदान है जहाँ पर नारायण बनने का खेल खेला जा सकता है। अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन कह रहे थे "धन्य है हमारी यह सुहाग नगरी ! फिरोजाबाद ! इसने आचार्य महावीर कीर्ति जैसी मूर्ति को उत्पन्न किया।" ठीक है महावीर कीर्ति महाराज यहाँ पैदा हुये और उन्होंने साधना द्वारा अपना कल्याण किया , किन्तु आप को क्या मिला ? आप भी महावीर कीर्ति महाराज जैसे बने क्या ? महावीर कीर्ति महाराज जैसे तपस्वी आपके लिए आदर्श तो बन सकते हैं आपकी कालिमा का संकेत दे सकते हैं किन्तु वे स्वयं आपकी कालिमा मिटा नहीं सकते, दर्पण आपके मुख पर लगे धब्बे को दिखा सकता है लेकिन वह धब्बा जब भी मिटेगा आपके अपने सम्यक् पुरुषार्थ से मिटेगा। आपको मनुष्य जीवन मिला है तो साधना करना ही चाहिये। अन्यथा आप जानते ही हैं 'तप' का विलोम 'पत' होता है अर्थात् गिरना। साधना के अभाव में पतन ही होगा।

इच्छायें प्रत्येक के पास हैं किन्तु इच्छा निरोध केवल तप द्वारा ही संभव है यदि इच्छाओं का निरोध नहीं हुआ, तो ऐसा तप भी तप नहीं कहा जायेगा 'तपसा निर्जरा च' तप से निर्जरा भी होती है । यदि तप करने से आकुलता हो और निर्जरा न हो तो वह तप भी तप नहीं है। साधन वही है जो साध्य को दिशा दे, कारण वही साधकतम है जो कार्य सम्पन्न करा दे, औषधि वही है जो रोग की निवृत्ति कर दे, तप वही है जो नर से नारायण बना दे,भक्त से भगवान बना दे।

गृहस्थ भी घर में थोड़ी बहुत साधना कर सकता है किन्तु आज तो वह भी नहीं होती। आज का गृहस्थ तो रागद्वेष और विषय कषाय में अनुरक्त रह कर उपास्य की मात्र शाब्दिक उपासना कर रहा है । एक राजा था वह अपने राज्य में दुष्टों का निग्रह करता था और शिष्ट प्रजा का पालन करता था। एक बार लोगों ने राजा से शिकायत की-"महाराज, आपके राज्य में एक व्यक्ति ऐसा पैदा हो गया है जो आपकी आज्ञा का पालन नही करता और न ही आपका राज्य छोड़ना चाहता है"। उसे राजा ने बुलाकर बड़े प्रेम से उसकी आवश्यकताओं की जानकारी ली। एक-एक करके उसने अपनी ढेरों आवश्यकतायें राजा के सामने रखीं । राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति इतनी इच्छाएँ तो रखता है परन्तु पुरुषार्थ कुछ भी नहीं चाहता । आवश्यकता आविष्कार की जननी है परन्तु आज तो आविष्कार जितने अधिक हो रहे हैं उतनी ही अधिक आवश्यकतायें बढ़ रही हैं। राजा को

उस व्यक्ति की इतनी प्रबल इच्छायें देख कर उसे अपने राज्य से निकल जाने का आदेश देना पड़ा । इच्छाओं के कारण उस व्यक्ति को हमेशा दुःख झेलना पड़ा।

अतः केवल आवश्यकता की वस्तुयें रखो, शेष से नाता तोड़ लो उपासना वासना नहीं है। उपासना में तो वासना का निरोध है। वासना के निरोध से ही उपास्य से सम्बंध स्थापित हो सकता है।

कुछ समयसार पाठी सज्जन मेरे पास आते हैं और कहते हैं "महाराज, हमें तो कुछ इच्छा है ही नहीं । न खाने की इच्छा है न पीने की इच्छा है और न कोई अन्य इच्छा होती है। सब कुछ सानंद चल रहा है।" उनकी बात सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। अगर खाने की इच्छा नहीं है तो फिर लड्डू आदि मुँह में ही क्यों डाले जा रहे हैं, कान में या कि और किसी के मुँह में क्यों नहीं डाल देते। बिना इच्छा के ये सब क्रियायें कैसे चल सकती हैं। प्रवृत्ति इच्छा के बिना नहीं होती। प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति के मार्ग पर जाना ही श्रेयस्कर है।

❐

साधु समाधि सुधा साधन

⁂ हर्ष विवाद से परे आत्म-सत्ता की सतत अनुभूति ही सच्ची समाधि है।

यहाँ समाधि का अर्थ मरण से है। साधु का अर्थ है श्रेष्ठ/अच्छा अर्थात् श्रेष्ठ/आदर्श मृत्यु को साधु-समाधि कहते हैं 'साधु' का दूसरा अर्थ 'सज्जन' से है। अतः सज्जन के मरण को भी साधु समाधि कहेंगे। ऐसे आदर्श मरण को यदि हम एक बार भी प्राप्त कर लें तो हमारा उद्धार हो सकता है।

जन्म और मरण किसका ? हम बच्चे के जन्म के साथ मिष्ठान वितरण करते हैं। बच्चे के जन्म के समय सभी हँसते हैं किन्तु बच्चा रोता है। इसलिये रोता है कि उसके जीवन के इतने क्षण समाप्त हो गये। जीवन के साथ ही मरण का भय शुरू हो जाता है । वस्तुतः जीवन और मरण कोई चीज नहीं है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है वह तो बिखरेगा ही।

आपके घरों में पंखा चलता है। पंखे में तीन पंखुड़िया होती हैं। ये पंखे के तीन पहलू हैं और जब पंखा चलता है तो एक मालूम पड़ते हैं। यह पंखुड़ियाँ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की प्रतीक हैं और पंखे के बीच का डंडा जो घूमता है सत् का प्रतीक है। हम उसकी शाश्वतता को नहीं देखते केवल जन्म-मरण के पहलुओं से चिपके रहते हैं जो भटकाने/घुमाने वाला है।

समाधि ध्रुव है वहाँ न आधि है , न व्याधि है और न ही कोई उपाधि है। मानसिक विकार का नाम आधि है शारीरिक विकार व्याधि है बुद्धि के विकार को उपाधि कहते हैं।

समाधि मन, शरीर और बुद्धि से परे है। समाधि में न राग है न द्वेष है, न हर्ष है और न विषाद । जन्म और मृत्यु शरीर के हैं। हम विकल्पों में फँस कर जन्म-मृत्यु का दुःख उठाते हैं। अपने अन्दर प्रवाहित होने वाली अक्षुण्ण चैतन्य धारा का हमें कोई ध्यान ही नहीं । अपनी त्रैकालिक सत्ता को पहिचान पाना सरल नहीं है। समाधि तभी होगी जब हमें अपनी सत्ता की शाश्वतता का भान हो जायेगा । साधु-समाधि वही है जिसमें मौत को मौत के रूप में नहीं देखा जाता और जन्म को भी अपनी आत्मा का जन्म नहीं माना जाता । जहाँ न सुख का विकल्प है और न दुःख का।

आज ही एक सज्जन ने मुझे से कहा "महाराज, कृष्ण जयन्ती है आज।" मैं थोड़ी देर सोचता रहा। मैंने पूछा "क्या कृष्ण जयन्ती मनाने वाले आप कृष्ण की बात मानते हैं? कृष्ण गीता में स्वयं कह रहे हैं कि मेरी जन्म-जयन्ती न मनाओ। मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण नहीं । मैं तो सकल ज्ञेय ज्ञायक हूँ। त्रैकालिक हूँ । मेरी सत्ता तो अक्षुण्ण है।" अर्जुन युद्ध-भूमि में खड़े थे। उनका हाथ अपने गुरुओं से युद्ध के लिये नहीं उठ रहा था। मन में विकल्प था कि 'कैसे मारूँ अपने ही गुरुओं को।' वे सोचते थे चाहे मैं भले ही मर जाऊँ किन्तु मेरे हाथ से गुरुओं की सुरक्षा होनी चाहिये। मोहग्रस्त ऐसे अर्जुन को समझाते हुये श्री कृष्ण ने कहा -

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवो जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। (गीता)

जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्य होगा । यह अपरिहार्य चक्र है इसलिये हे अर्जुन ! सोच नहीं करना चाहिये ।

अर्जुन ! उठाओ अपना धनुष और क्षत्रिय धर्म का पालन करो। सोचो, कोई किसी को वास्तव में मार नहीं सकता। कोई किसी को जन्म नहीं दे सकता। इसलिये अपने धर्म का पालन श्रेयस्कर है। जन्म-मरण तो होते ही रहते हैं। आवीचि मरण तो प्रति समय हो ही रहा है। कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से और हम हैं केवल जन्म-मरण के चक्कर में, क्योंकि चक्कर में भी हमें शक्कर-सा अच्छा लग रहा है।

तन उपजत अपनी उपज जान,
तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट जे दुःख दैन,
तिन ही को सेवत गिनत चैन।।
(छहढाला / दूसरी ढाल)

हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर-मरण के साथ अपना मरण मान रहे हैं। अपनी वास्तविक सत्ता का हमको भान ही नहीं। सत् की ओर हम देख ही नहीं रहे हैं। हम जीवन और मरण के विकल्पों में फँसे हैं किन्तु जन्म-मरण के बीच जो ध्रुव सत्य है उसका चिन्तन कोई नहीं करता। साधु-समाधि तो तभी होगी जब हमें अपनी शाश्वत सत्ता का अवलोकन होगा। अतः जन्म जयन्ती न मनाकर हमें अपनी शाश्वत सत्ता का ही ध्यान करना चाहिये, उसी की संभाल करनी चाहिये।

❐

वैयावृत्त्य

✻ वास्तव में दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा में निमित्त बनकर अपने अंतरंग में उतरना ही सबसे बड़ी सेवा है।

वैयावृत्त्य का अर्थ है सेवा, सुश्रुषा, अनुग्रह, उपकार। सेवा की चर्चा करते ही हमारा ध्यान पड़ोसी की ओर चला जाता है। बचाओ, शब्द कान में आते ही हम देखने लग जाते हैं किसने पुकारा है, कौन अरक्षित है और उसकी मदद के लिये दौड़ पड़ते हैं। किन्तु अपने पास में जो आवाज उठ रही है उसकी ओर आज तक हमारा ध्यान नहीं गया। सुख की खोज में निकले हुये पथिक की वैयावृत्ति आज तक किसी ने नहीं की। सेवा, तभी हो सकती है जब हमारे अन्दर सभी के प्रति अनुकम्पा जाग्रत हो जाये। अनुकम्पा के अभाव में न हम अपनी सेवा कर सकते हैं और न दूसरे की ही सेवा कर सकते हैं।

सेवा किसकी ? ये प्रश्न बड़ा जटिल है। लौकिक दृष्टि से हम दूसरे की सेवा भले कर लें किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में सबसे बड़ी सेवा अपनी ही हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से किसी अन्य की सेवा हो ही नहीं सकती। भगवान का उपकार भी उसी को प्राप्त हो सकता है जो अपना उपकार करने में स्वयं तत्पर और तल्लीन है। भगवान भी उन्हीं की सहायता करते हैं जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। दूसरों का सहारा लेने वाले पर भगवान कोई अनुग्रह नहीं करते। सेवा करने वाला वास्तव में अपने ही मन की वेदना मिटाता है यानि अपनी ही सेवा करता है। दूसरे की सेवा में भी अपनी ही सुख शांति की बात छिपी रहती है।

मुझे एक लेख पढ़ने को मिला। उसमें लिखा था कि इंग्लैण्ड का गौरव उसके सेवकों में निहित है। किन्तु सच्चा सेवक कौन ? एक व्यक्ति उठा और कहने लगा - "चाहे सारी सम्पत्ति चली जाये, चाहे सूर्य का आलोक भी हमें प्राप्त न हो किन्तु हम अपने कवि शेक्सपीयर को किसी कीमत पर नहीं छोड़ सकते।" कहा भी है 'जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे रवि।' कवि गूढ़ तत्त्व का विश्लेषण भी कर सकता है किन्तु एक काम तो नहीं कर सकता, वो

ये कि वह 'निजानुभवी नहीं बन सकता।' "जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे निजानुभवी" - पाश्चात्य देश शब्दों को महत्व अधिक देते हैं जबकि भारत देश अनुभव को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है। कवि और चित्रकार प्रकृति के चित्रण में सक्षम हैं किन्तु यही मात्र हमारा लक्ष्य नहीं, तट नहीं। स्वानुभव ही गति है और स्वानुभवी बनने के लिये स्व-सेवा अनिवार्य है। स्वयंसेवक बनो, परसेवक मत बनो। भगवान के सेवक भी स्वयं सेवक नहीं बन पाते। खुदा का बन्दा बनना आसान है किन्तु खुद का बन्दा बनना कठिन है। खुद के बन्दे बनो। भगवान की सेवा आप क्या कर सकेंगे ? वे तो निर्मल और निराकार बन चुके।

हम शरीर की तड़पन तो देखते हैं किन्तु आत्मा की पीड़ा नहीं पहचान पाते। यदि हमारे शरीर में कोई रात को भी सुई चुभा दे तो तत्काल हमारा समग्र उपयोग उसी स्थान पर केन्द्रित हो जाता है। हमें बड़ी वेदना होती है किन्तु आत्म-वेदना को हमने आज तक अनुभव नहीं किया। शरीर की सड़ांध का हम इलाज करते हैं किन्तु अपने अंतर्मन की सड़ांध/उत्कट दुर्गन्ध को हमने कभी असह्य माना ही नहीं। आत्मा में अनादि से बसी हुई इस दुर्गन्ध को निकालने का प्रयास ही वैयावृत्य का मंगलाचरण है।

हमारे गुरुवर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने 'कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन' नाम के अपने ग्रंथ में एक घटना का उल्लेख किया है। एक जज साहब कार में जा रहे हैं अदालत की ओर। मार्ग में देखते हैं एक कुत्ता नाली में फँसा हुआ है। जीवैषणा है उसमें किन्तु प्रतीक्षा है कि कोई आ जाये और उसे कीचड़ से बाहर निकाल दे। जज साहब कार रुकवाते हैं और पहुँच जाते हैं उस कुत्ते के पास। उनके दोनों हाथ नीचे झुक जाते हैं और झुककर वे उस कुत्ते को निकाल कर सड़क पर खड़ा कर देते हैं। सेवा वही कर सकता है जो झुकना जानता है। बाहर निकलते ही उस कुत्ते ने एक बार जोर से सारा शरीर हिलाया और पास ही खड़े जज साहब के कपड़ों पर ढेर सारा कीचड़ लग गया। सारे कपड़ों पर कीचड़ के धब्बे लग गये किन्तु जज साहब घर नहीं लौटे। उन्हीं वस्त्रों में पहुँच गये अदालत में। सभी चकित हुये किन्तु जज साहब के चेहरे पर अलौकिक आनन्द की अद्भुत आभा खेल रही थी। वे शांत थे। लोगों के बार-बार पूछने पर बोले "मैंने अपने हृदय की तड़पन मिटाई है मुझे शांति मिली है।"

वास्तव में दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा हम कर ही नहीं सकते। दूसरे तो मात्र निमित्त बन सकते हैं। उन निमित्तों के सहारे अपने अंतरंग में उतरना, यही सबसे बड़ी सेवा है। वास्तविक सुख स्वावलम्बन में है। आरम्भ में छोटे-छोटे बच्चों को सहारा देना होता है किन्तु बड़े होने पर उन बच्चों को अपने पैरों पर बिना दूसरे के सहारे खड़े होने की शिक्षा देनी होगी आप हम से कहें कि महाराज आप उस कुत्ते को कीचड़ में से निकालेंगे या नहीं; तो हमें कहना होगा कि हम उसे निकालेंगे नहीं, हाँ उसको देखकर अपने दोषों का शोधन अवश्य करेंगे।

आपको शायद याद होगा हाथी का किस्सा जो कीचड़ में फँस गया था। वह जितना निकलने का प्रयास करता उतना अधिक उसी कीचड़ में धँसता जाता था। उसके निकलने का एक ही मार्ग था, कि कीचड़ सूर्य के आलोक में सूख जाये। इसी तरह आप भी संकल्पों-विकल्पों के दल-दल में फँस रहे हो। अपनी ओर देखने का अभ्यास करो तब अपने आप ही ज्ञान की किरणों से यह मोह की कीचड़ सूख जायेगी। बस अपनी सेवा में जुट जाओ, अपने आप को कीचड़ से बचाने का प्रयास करो। भगवान महावीर ने यही कहा है - "सेवक बनो स्वयं के" और खुदा ने भी यही कहा है "खुद का बन्दा बन।" एक सज्जन जब भी आते हैं एक अच्छा शेर सुनाकर जाते हैं हमें याद हो गया-

अपने दिल में डूबकर पा ले, सुरागे जिन्दगी।
तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन।।

❐

अर्हत्भक्ति

⁂ भक्ति - गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होना चाहिये और पहुँचना चाहिये वहाँ, जहाँ निस्सीमता है।

आज हम अर्हत्भक्ति की प्ररूपणा करेंगे। अर्हतीति अर्हत् अर्थात् जो पूज्य हैं उनकी उपासना, उनकी पूजा करना। इसी को अर्हत्भक्ति कहते हैं किन्तु प्रश्न है कि पूज्य कौन ? किसी ने कहा था - "भारत देश की विशेषता ही ये है कि यहाँ पूज्य ज्यादा हैं और पूजने वाले कम हैं।" उपास्य ज्यादा हैं उपासक कम। जब पूज्यों की कमी हुई तो प्रचुर मात्रा में मूर्तियों का निर्माण होने लगा। पूज्य कौन हैं इसी प्रश्न का उत्तर पहले खोजना होगा क्योंकि पूज्य की भक्ति ही वास्तविक भक्ति हो सकती है। अन्य भक्तियाँ तो स्वार्थ साधने के लिये भी हो सकती हैं। पूज्य की भक्ति में गतानुगतिकता के लिये स्थान नहीं है। दो सम्यग्दृष्टियों के भाव, विचार और अनुभव में अन्तर होना संभव है। भले ही लक्ष्य एक हो। क्योंकि अनुभूति करना हमारे अपने हाथ की बात है। भाव तो असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

आज से कई वर्ष पूर्व दक्षिण से एक महाराज आये थे। उन्होंने एक घटना सुनाई। दक्षिण में एक जगह किसी उत्सव में जुलूस निकल रहा था। मार्ग थोड़ा सकरा था पर साफ सुथरा था। अचानक कहीं से आकर एक कुत्ते ने उस मार्ग में मल कर दिया। स्वयंसेवक देखकर सोच में पड़ गया परन्तु जल्दी ही विचार करके उसने उस मल पर थोड़े फूल डाल कर ढक दिया। अब क्या था एक-एक करके जुलूस में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने उस पर फूल

चढ़ाये और वहाँ फूलों का अम्बार लग गया। वह स्थल पूज्य बन गया। ऐसी मूढ़ता के लिये भक्ति में कोई स्थान नहीं है।

भक्ति किसकी ? जो भक्तों से कहे, "आ जाओ मेरी ओर, और मेरी पूजा करो मैं तुम्हें शरण दूँगा।" ऐसा कहने वाला भगवान नहीं हो सकता। जहाँ लालसा है ख्याति की, वहाँ भगवान कैसे ? काम भोग की आकाँक्षा रखने वालों से भगवान का क्या वास्ता ? 'भगवान भक्त के वश में होते आये' इस कहावत का भी अर्थ गहराई से समझना पड़ेगा। भगवान तो चुम्बक हैं जो उस लोहे को अपनी ओर खींच लेते हैं जिसे मुक्ति की कामना है। उस पाषाण को कभी नहीं खींचते जिसे भुक्ति की कामना है।

भक्ति गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होना चाहिए और पहुँचना चाहिए वहाँ, जहाँ निस्सीमता है। गंगा के तट पर पहुँचकर एक आदमी चुपचाप नदी का बहना देखता रहा। उसके गंगा से यह पूछने पर कि वह कहाँ दौड़ी चली जा रही है ? नदी ने मौन उत्तर दिया "वहाँ जा रही हूँ, जहाँ मुझे शरण मिले।" पहाड़ों में शरण नहीं मिली। मरुभूमि और गड्ढ़ों में मुझे शरण नहीं मिली, जहाँ सीमा है, वहाँ शरण मिल नहीं सकती, नदी की शरण तो सागर में है, जहाँ पहुँच कर बिन्दु भी सिन्धु बन जाता है और जहाँ इन्दु भी गोद में समा जाता है।

पूजा करो, पूर्ण की करो। अनंत की करो। लोक में विख्यात है कि सुखी की पूजा करोगे तो तुम स्वयं भी सुखी बन जाओगे। गंगा, सिंधु के पास पहुँच कर स्वयं भी सिंधु बन गयी। वहाँ गंगा का अस्तित्व मिटा नहीं, बिंदु मिटी नहीं, सागर के समान पूर्ण हो गई। जैसे एक कटोरे जल में लेखनी द्वारा एक कोने से स्याही का स्पर्श कर देने से सारे जल में स्याही फैल जाती है इसी तरह गंगा भी सारे सिंधु पर फैल गयी अपने अस्तित्व को लिए हुए। इसे जैनाचार्यों ने स्पर्द्धक की संज्ञा दी है जिसका अर्थ है शक्ति। यह कहना उपयुक्त होगा कि भगवान भक्त के वश में होते आये और भक्त भगवान के वश में होते आये क्योंकि जहाँ आश्लेष हो जाये, वही है असली भक्ति का रूप।

हमारी मुक्ति नहीं हो रही क्योंकि हमारी भक्ति में भुक्ति की इच्छा है। जहाँ लालसा हो, भोगों की इच्छा हो, वहाँ मुक्ति नहीं। भक्ति में तो पूर्ण समर्पण होना चाहिए। पर समर्पण है कहाँ ? हम तो केवल भोगों के लिए भक्ति करते हैं अथवा हमारा ध्यान पूजा के समय भी जूतों-चप्पलों की ओर ज्यादा रहता है। मैंने एक सज्जन को देखा भक्ति करते हुए। एक हाथ चाबियों के गुच्छे पर और एक हाथ भगवान की ओर उठा हुआ। यह कौन-सी भक्ति हुई भइया बताओ ? कल आपको क्षुल्लकजी ने यमराज के विषय में सुनाया था। दांत गिरने लगे, वृद्धावस्था आ गई तो अब समझो श्मशान जाने का समय समीप आ गया किन्तु

आप तो नई बत्तीसी लगवा लेते हैं क्योंकि भी रसों की भुक्ति वाला कभी मुक्ति की ओर देखता नहीं। भक्ति मुक्ति के लिए है और भुक्ति संसार के लिए है। हम अपने परिणामों से ही भगवान से दूर हैं और परिणामों की निर्मलता से ही उन्हें पा सकते हैं।

भक्ति करने के लिए भक्त को कहीं जाना नहीं पड़ता। भगवान तो सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हैं। जहाँ बैठ जाओ, वहीं भक्ति कर सकते हो। हमारे भगवान किसी को बुलाते नहीं और यदि आप वहाँ पहुँच जायेंगे तो आपको दुतकारेंगे भी नहीं। सागर, गंगा नदी से कहने लगा कि तू आ, किन्तु नदी बहकर सागर तक गई तो सागर ने उसे भगाया भी नहीं। मन्दिर उपयोग को स्थिर करने के लिये हैं किन्तु सबके उपयोग को स्थिर करने में निमित्त बने, ये जरूरी नहीं है।

जैनाचार्यों ने कहा, 'जो अर्हंत् को जानेगा, वह खुद को भी जानेगा।' पूज्य कौन है ? मैं स्वयं पूज्य, मैं स्वयं उपास्य, मैं स्वयं साहूकार हूँ तो भीख किससे माँगूँ ?

"मैं ही उपास्य जब हूँ स्तुति अन्य की क्यों,
मैं साहूकार जब हूँ, फिर याचना क्यों ?"

बाहर का कोई भी निमित्त हमें अर्हंत् नहीं बना सकता। अर्हंत बनने में साधन भर बन सकता है, अर्हंत बनने के लिए दिशा-बोध भर दे सकता है पर बनना हमें ही होगा। इसीलिये भगवान महावीर और भगवान राम ने कहा-"तुम स्वयं अर्हंत हो।" हमारी शरण में आओ ऐसा नहीं कहा, कहेंगे भी नहीं। ऐसे ही भगवान वास्तव में पूज्य हैं। तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने अन्दर डूब जायें। मात्र बाहर का सहारा पकड़ कर बैठने से अर्हंत पद नहीं मिलेगा।

जब तक भक्ति की धारा बाहर की ओर प्रवाहित रहेगी तब तक भगवान अलग रहेंगे और भक्त अलग रहेगा। जो अर्हंत बन चुके हैं उनसे दिशा-बोध ग्रहण करो और अपने में डूब कर उसे प्राप्त करो। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।' यही है सच्ची अर्हंत् भक्ति। गहरे पानी पैठ वाली बात को लेकर आपको एक उदाहरण सुनाता हूँ। एक पण्डित जी रोज सूर्य को नदी के किनारे एक अँजुलि जल देते थे और फिर नदी में गोता लगाकर निकल आते थे। एक गड़रिया जो रोज उन्हें ऐसा करते हुए देखता था उसने पूछा - "महाराज यह गोता क्यों लगाते हो पानी में ? पं॰ जी बोले तू क्या जाने गड़रिये ऐसा करने से भगवान के दर्शन होते हैं।" भगवान के दर्शन ओह ! आपका जीवन धन्य है मैं भी करके देखूँगा और इतना कह कर गड़रिया चला गया। दूसरे दिन पं॰ जी के आने से पहिले वह नदी में कूद गया और डूबा रहा दस मिनट पानी में । जल देवता उसकी भक्ति और विश्वास देखकर दर्शन देने आ गये और पूछा - माँग वरदान, क्या माँगता है। गड़रिया आनंद से भरकर बोला-"दर्शन हो

गए प्रभु के अब कोई माँग नहीं।" प्रभु के दर्शन के बाद कोई माँग शेष नहीं रहती। ऐसे ही गहरे अपने अन्दर उतरना होगा, तभी प्राप्ति होगी। महावीर जी में मैंने देखा एक सज्जन को। घड़ी देखते जा रहे हैं और लगाये जा रहे हैं चक्कर पर चक्कर मंदिर के। पूछने पर बताया, "एक हजार आठ चक्कर लगाना है। पहले एक सौ आठ चक्कर लगाए थे, बड़ा लाभ हुआ था।" ऐसे चक्कर लगाने से, जिसमें आकुलता हो, कुछ नहीं मिलता। भक्ति का असली रूप पहिचानो, तभी पहुँचोगे मंजिल पर, अन्यथा संसार की मरुभूमि में ही भटकते रह जाओगे।

❐

आचार्य-स्तुति

✻आचार्य स्वयं भी तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं। आचार्य नौका के समान हैं।

इन भावनाओं के अंतर्गत अर्हंत परमेष्ठी के बाद आचार्य परमेष्ठी की भक्ति का विवेचन है। सिद्ध परमेष्ठी को यहाँ ग्रहण नहीं किया गया क्योंकि उपयोगिता के आधार पर ही महत्व दिया जाता है। जैनेतर साहित्य में भी भगवान से बढ़कर गुरु की ही महिमा का यशोगान किया है।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय ।
बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो बताय ।।

'बताय' शब्द के स्थान पर यदि 'बनाय' शब्द रख दिया जाये तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि गुरु शिष्य को भगवान बना देते हैं। इसीलिये उन्हें तरणतारण कहा गया है। गुरु स्वयं तो सत्पथ पर चलते ही हैं दूसरों को भी चलाते हैं। चलने वाले की अपेक्षा चलाने वाले का काम अधिक कठिन है। रास्ता दूसरों को तारता है इसीलिए वह तारण कहलाता है। पुल भी तारण है किन्तु रास्ता और पुल दोनों स्वयं खड़े रह जाते हैं। गुरु स्वयं भी तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं। इसलिए उनका महत्व शब्दातीत है। आचार्य नौका के समान हैं जो स्वयं नदी के उस पार जाती है और अपने साथ अन्यों को भी पार लगाती है।

भगवान महावीर की वाणी गणधर आचार्य की अनुपस्थिति होने से छियासठ दिन तक नहीं खिरी। आचार्य ही उस वाणी को विस्तार से समझाते हैं। वे अपने शिष्यों को आलम्बन देते हैं, बुद्धि का बल प्रदान करते हैं, साहस देते हैं। जो उनके पास दीक्षा लेने जाये, उसे दीक्षा देते हैं और अपने से भी बड़ा बनाने का प्रयास करते हैं। शिष्य से यह नहीं कहते

"तू मुझ जैसा बन जाय" वे तो कहते हैं "तू भगवान बन जाये।"

मोक्षमार्ग में आचार्य से ऊँचा साधु का पद है। आचार्य अपने पद पर रहकर मात्र उपदेश और आदेश देते हैं, किन्तु साधना पूरी करने के लिए साधु पद को अंगीकार करते हैं। मोक्षमार्ग का भार साधु ही वहन करता है। इसीलिये चार मंगल पदों में, चार उत्तम पदों में और चार शरण पदों में आचार्य पद को पृथक् ग्रहण न करके साधु पद के अंतर्गत ही रखा गया है। आचार्य तो साधु की ही एक उपाधि है जिसका विमोचन मोक्ष प्राप्ति के पूर्व होना अनिवार्य है।जहाँ राग का थोड़ा भी अंश शेष है, वहाँ अनन्त पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये साधना में लीन साधु की वंदना और तीन प्रदक्षिणा आचार्य द्वारा की जाती है।

मैंने अभी दो दिन पूर्व थोड़ा विचार किया इस बात पर कि भगवान महावीर अपने साधना काल में दीक्षा के उपरान्त बारह वर्ष तक निरन्तर मौन रहे। कितना दृढ़ संकल्प था उनका। बोलने में सक्षम होते हुये भी वचनगुप्ति का पालन किया। वचन व्यापार रोकना बहुत बड़ी साधना है। लोगों को यदि कोई बात करने वाला न मिले तो वे दीवाल से ही बातें करने लगते हैं। एक साधु थे नगर से बाहर निकले, इसलिए कि कोई उनसे बातें न करे किन्तु फिर भी एक व्यक्ति उनके साथ हो गया। और बोला 'महाराज, मुझे अपने जैसा बना लें। मैं आपकी सेवा करता रहूँगा। आपको कोई न कोई सेवक तो चाहिए अवश्य सेवा करने के लिये।" साधु बड़े पशोपेश में पड़ गये। आखिर बोले, "सबसे बड़ी मेरी सेवा आप ये ही करो कि बोलो नहीं। बोलना बन्द कर दो।" बोलने वालों की कमी नहीं है प्रायः सर्वत्र मिल जाते हैं। मुझे स्वयं भी एक ऐसी घटना का सामना करना पड़ा मदनगंज, किशनगढ़ में। ब्रह्मचर्य अवस्था में एक स्थान पर बैठकर मैं सूत्र जी पाठ कर रहा था। एक बूढ़ी माँ आई और मुझसे कुछ पूछने वहीं बैठ गयी। मैं मौन ही रहा परन्तु धीरे-धीरे वहाँ और भी कई मातायें आकर बैठने लगीं और दूसरे दिन से मुझे वह स्थान छोड़ना पड़ा। विविक्तशय्यासन अर्थात् एकांतवास भी एक तप है जिसे साधु तपता है। इसलिए कि एकान्त में ही अन्दर की आवाज सुनाई पड़ती है। बोलने से साधना में व्यवधान आता है।

आचार्य कभी भी स्वयं को आचार्य नहीं कहते वे तो दूसरों को बड़ा बनाने में लगे रहते हैं, अपने को बड़ा कहते नहीं। कोई और उन्हें कहे तो वे उसका विरोध भी नहीं करते और विरोध करना भी नहीं चाहिए। गाँधी जी के सामने एक बार यह प्रश्न आया। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला, "महाराज, आप बड़े चतुर हैं अपने आप को महात्मा कहने लग गये।" गाँधी जी बोले - भैया मैं अपने को महात्मा कब कहता हूँ। लोग भले ही कहें मुझे क्या? मैं किसी का विरोध क्यों करूँ। यही उनकी महानता है।

❐

शिक्षा गुरु स्तुति

❊ जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है बहुश्रुतवान् उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने/बचने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं।

बहुश्रुत का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी से है। उपाध्याय ये तीन शब्दों से मिलकर बना है उप + अधि + आय। 'उप' अर्थात पास/निकट 'अधि' अर्थात बहुत समीप अर्थात् सन्निकट और 'आय' अर्थात् आना अर्थात् जिनके जीवन का संबंध अपने शुद्ध गुण पर्याय से है जो अपने शुद्ध गुण पर्याय के साथ अपना जीवन चला रहे हैं वे, उपाध्याय परमेष्ठी हैं। उसकी पूजा, उपासना या अर्चना करना, यह कहलाती है बहुश्रुत-भक्ति।

आचार्य और उपाध्याय में एक मौलिक अन्तर है। आचार्य महाराज उपाध्याय परमेष्ठी पर भी शासन करते हैं। उनका कार्य होता है आदेश देना। 'पर' का हित उनका कर्त्तव्य है अतः वे कटु शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। प्रिय, कटु और मिश्रित इन तीनों प्रकार के वचनों का प्रयोग आचार्य परमेष्ठी करते हैं। किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी उनसे बिलकुल भिन्न हैं। उपाध्याय महाराज तो बड़े मीठे शब्दों में वचनामृत कराते हैं अपने शिष्यों को। जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं ही उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं। उपाध्याय महाराज आत्मा की बात करते हैं। उनके पास न पंचेन्द्रिय विषयों की चर्चा है, न कषायों की, न आरम्भ की और न परिग्रह की। विषयों और कषायों में अनुरंजन आरम्भ और परिग्रह में आसक्ति तथा संचय की प्रवृत्ति का नाम ही संसार है। और जहाँ विषय कषाय आरम्भ और परिग्रह का सर्वथा अभाव है वहाँ मुक्ति है। उपाध्याय परमेष्ठी इसी मुक्ति की चर्चा करते हैं और उस उपदेश के अनुरूप आचरण भी करते हैं। इसी कारण उनका प्रभाव लोगों पर पड़ता है। प्रभाव केवल आचरण का ही पड़ सकता है वचनों का नहीं। वचनों में शक्ति अद्भुत है वचन को योग माना है किन्तु उन वचनों के अनुरूप कार्य भी होना चाहिये।

एक बच्चा बहुत गुड़ खाता था। माँ बड़ी परेशान थी। एक साधु के पास पहुँची। 'महाराज, इसका गुड़ छुड़वा दीजिये बहुत खाता है'। साधु ने कहा "आठ दिन बाद आना इस बच्चे को लेकर"। साधु ने इस बीच पहले स्वयं त्याग किया गुड़ खाने का और आठ दिनों में पूरी तरह उन्होंने गुड़ का परित्याग कर दिया। नौवें दिन जब वह माँ आयी उस बच्चे को लेकर, तो साधु ने उस बच्चे से कहा 'बच्चे गुड़ नहीं खाना'। बच्चे ने तुरन्त उस साधु की बात

मान ली। बोला "महाराज आपकी बात मान सकता हूँ मां की नहीं क्योंकि डॉक्टर ने मां को भी मना किया है गुड़ खाने का किन्तु छिपकर खा लेती हैं।" इधर माँ ने साधु को टोक दिया 'बाबाजी इतनी सी बात उसी दिन कह देते। मुझे आठ दिन प्रतीक्षा क्यों करवाई ?' साधु का विनम्र उत्तर था 'माँ जी', जब तक गुड़ में मेरी लिप्सा थी तब तक मेरे उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता था ?'

उपाध्याय परमेष्ठी एक अनूठे साधक हैं। उनके उपदेश सुनने वाला पिघल जाता है उनके उपदेश को सुनकर। जो अनादि काल से जन्म, जरा और मरण के रोग से पीड़ित है वह रोगी दौड़ा चला आता है उपाध्याय परमेष्ठी के पास और उसे औषधि मिल जाती है अपने इस रोग की। रोगी को रोग मुक्त वही डॉक्टर कर सकता है जो स्वयं उस रोग से पीड़ित न हो। एक डॉक्टर के पास एक रोगी पहुँचा। उसे आँखों का इलाज कराना था। उसे एक पदार्थ 'दो' दिखाई पड़ते थे। किन्तु परीक्षण के समय ज्ञात हुआ कि स्वयं डाक्टर की आँख में ऐसा रोग था जिसे एक ही पदार्थ 'चार' पदार्थों-सा दिखाई पड़ता था। अब आप ही बतायें वह डॉक्टर क्या इलाज करेगा। ऐसे स्थान पर तो निराशा ही हाथ लगेगी।

संसार मार्ग का समर्थक कभी भी मुक्ति मार्ग का सच्चा उपदेश दे नहीं सकता क्योंकि उसे उसमें रुचि ही नहीं है। मुक्ति का मार्ग ही सच्चा मार्ग है अन्य मार्ग तो भटकाने वाले हैं उपाध्याय परमेष्ठी ही मुक्ति मार्ग का उपदेश दे सकते हैं क्योंकि वे स्वयं ही उस मार्ग के अडिग और अथक पथिक हैं।

एक जैन सज्जन मेरे पास आये, उनका प्रश्न था-"महाराज, आचार्य समन्तभद्र के एक श्लोक से हिंसा का उपदेश ध्वनित होता है। उन्होंने कौवे के मांस का उपदेश दिया है अन्य मांस का नहीं।" मैं दंग रह गया। मैंने उन्हें समझाया, भइया ! ये हिंसा का उपदेश नहीं है। यहाँ तो उस आदमी को महत्व दिया गया है जिसने कुछ त्यागा है। यहाँ तो छोड़ने का उपदेश दिया गया है ग्रहण का नहीं। भोगों का समर्थन नहीं किया गया है त्याग का समर्थन किया है। पात्र को देखकर ही उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश दिया करते हैं। यदि पात्र-भेद किए बिना उपदेश दिया जाये तो वह सार्थक नहीं हो सकता। जो रात-दिन खाता है उसे रात्रि में पहले अन्न का भोजन छुड़वाया जाता है वही उपयुक्त है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसे रात्रि में अन्य पदार्थों के ग्रहण का उपदेश दिया गया है।

राजस्थान में एक प्रथा प्रचलित है जिसे कहते हैं 'गढका तेरस'। अनन्त चतुर्दशी के पूर्व तेरस को खूब डटकर गरिष्ठ भोजन कर लेते हैं और ऊपर से कलाकन्द भी खा लेते हैं फिर चौदस के दूसरे दिन उपवास के बाद, पारणा बड़े जोर-शोर से करते हैं। ऐसे व्रत पालने से कोई लाभ होने वाला नहीं है। हमारी इच्छाओं का मिटना ही व्रतों में कार्यकारी है।

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल परिणामाय स तदा।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सता।।
(स्वयम्भू स्तोत्र / ११६)

उपाध्याय परमेष्ठी उपस्थित हों अथवा न हों, उनके लिखे हुए शब्दों का भी प्रभाव पड़ता है। द्रोणाचार्य की प्रतिमा मात्र ने एकलव्य को धनुर्विद्या में निष्णात बना दिया। ऐसे होते हैं उपाध्याय परमेष्ठी। उनको हमारा शत शत नमोस्तु !

❐

भगवद् भारती भक्ति

⁂ अज्ञात का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके जो विशिष्ट शब्द बोले जाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी आन्तरिक निधि से होता है वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं।

वचन और प्रवचन में बड़ा अन्तर है। जो साधारण शब्द हम बोलते हैं वे वचन हैं। प्रवचन वे विशेष शब्द हैं जिनका सम्बन्ध सांसारिक पदार्थों से न होकर उस अनमोल निधि से है जो हमारे अन्दर है। अज्ञात का अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करके जो विशेष शब्द खिरते हैं, बोले जाते हैं, वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं। आत्मानुभूति के लिये किये गये विशेष प्रयास को प्रवचन कहते हैं। महावीर भगवान ने अज्ञात और अदृष्ट का अनुभव प्राप्त किया । अतः जो भी वचन खिर गये वे सरस्वती बन गये, श्रुत बन गये। श्रुत की आराधना एक महान कार्य है।

श्रुत के दो भेद हैं-द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत। शाब्दिक वचन द्रव्य श्रुत है और अन्दर की पुकार भाव श्रुत है। विद्वान लोग इसी श्रुत का सहारा लेते हैं धन का सहारा नहीं लेते। वस्तुतः विद्वान वे ही हैं जो अनादिकालीन दुःखों के विमोचन के लिये सरस्वती की आराधना करते हैं। लक्ष्मी की आराधना नहीं करते। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं --

न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो न गांगमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्य रश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्।।
(स्वयम्भू स्तोत्र / ४६)

हे शीतल प्रभु ! विद्वान लोग शीतलता की प्राप्ति के लिये न चन्दन का सहारा लेते हैं न चन्द्र किरणों का, न गंगा के जल का और न हार का। वे आपके वचनों का सहारा लेते हैं क्योंकि उन्हींसे वास्तविक शीतलता मिलती है।

द्रव्य श्रुत एक चाबी की तरह है जिससे मोह-रूपी ताले को खोला जा सकता है

किन्तु चाबी मिलने पर ताला खुल ही जाये ये जरूरी नहीं है। उस चाबी का प्रयोग यदि हम किसी दूसरे ताले में करेंगे तो ताला कभी नहीं खुलेगा। आज तक हमने यही किया है। द्रव्यश्रुत के महत्व को नहीं समझा। द्रव्यश्रुत तो तभी है जब आप इसके सहारे से अपनी अलौकिक आत्म निधि को प्राप्त कर लें। शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार आत्मा का अनुभव कर लें। दूध में घी है किन्तु हाथ डालने मात्र से मिलने का नहीं। घी प्राप्ति के लिये मंथन करना पड़ेगा दूध का। इसी तरह भावश्रुत की उपलब्धि के लिये द्रव्यश्रुत की सहायता से मंथन करना होगा। आज तक हमने इस द्रव्यश्रुत का उपयोग आत्मा की प्राप्ति के लिये किया ही नहीं। इसीलिये विद्वान भी लक्ष्मीवान की तरह आज तक दुःखी हैं।

सरस्वती को दीपक की उपमा दी गई है जो हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है किन्तु जिसके हाथ में दीपक है यदि वह भी इधर-उधर देखता हुआ असावधानी से चले तो सर्प पर भी पैर पड़ सकता है, वह भटक भी सकता है। इन्द्रियाधीन होने के कारण, कषायों के वशीभूत होने के कारण हमारी भी दशा ऐसी ही है। शास्त्र शस्त्र का काम कर रहा है। हमारे वचन यदि दूसरों की कषाय को शान्त न कर सकें तो वे वचन व्यर्थ हैं। कषायों के शमन से ही सुख की प्राप्ति होती है और कषायों के शमन से ही भावश्रुत प्रादुर्भूत होता है। वैसे द्रव्यश्रुत और भावश्रुत दोनों ही लाभदायक हैं किन्तु भावश्रुत तो अनिवार्य रूप से लाभदायक हैं।

अविनाशी जीव द्रव्य के ज्ञान के लिए शाब्दिक ज्ञान अनिवार्य नहीं है। एक साधु के पास एक शिष्य आया। बोला-'महाराज, मुझे दीक्षित कर लो, आपके सहारे से मेरा भी कल्याण हो जायेगा।' शिष्य बिल्कुल निरक्षर और कम बुद्धि वाला था। साधु महाराज ने कई मन्त्र सिखाये किन्तु उसे कोई मन्त्र याद ही नहीं होते थे। गुरु महाराज बड़े चिन्तित 'कैसे कल्याण हो इसका', क्या करें ? इसे कुछ याद ही नहीं होता आखिर उसे छह अक्षरों का एक मन्त्र महाराज ने सिखाया 'मा रुष' 'मा तुष' अर्थात रोष मत करो, तोष मत करो। शिष्य उसे भी भूल गया और केवल उसे याद रहा 'तुषमास भिन्नं' अर्थात् छिलका अलग और दाल अलग। अचानक एक दिन उसने एक बुढ़िया माँ को दाल और छिलका अलग करते हुये देखा। बस इसी से उसका कल्याण हो गया। ये शिष्य शिवभूति महाराज थे। जो आत्मा अलग और शरीर अलग ऐसे भेद विज्ञान को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त के लिये 'स्व' में लीन हो गये और उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे मुक्त हो गये।

हमें भी भेद विज्ञान की कला में पारंगत होना चाहिये। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिये। अरे भइया ! शरीर के साथ जीवन का जीना भी कोई जीवन है ? शरीर तो जड़ है और आत्मा उजला हुआ चेतन है। जिस क्षण यह भेद विज्ञान हो जायेगा, उस समय न भोगों की लालसा रहेगी, न ही अन्य इच्छायें रहेंगी। मोह विलीन हुआ समझो दुःख विलीन हुआ। सूर्य के उदित होने पर क्या कभी अन्धकार शेष रह

सकता है। किन्तु आज तो इस भेद विज्ञान का भी अर्थ गलत ही लगाया जा रहा है। शरीर अलग और आत्मा अलग है इसलिये शरीर को खूब खिलाओ, पिलाओ आत्मा का उससे कुछ बिगाड़ होना नहीं है। यह तो अर्थ का अनर्थ है भइया ! हमारी दशा तो उस बुढ़िया की तरह ही हो गयी जिसकी सुई घर में कहीं खो गयी थी, अँधेरे में वह उसे ढूँढ नहीं पा रही थी तब किसी ने उजाले में ढूँढ़ने का परामर्श दिया और बुढ़िया बाहर जहाँ थोड़ा प्रकाश था वहाँ ढूँढ़ने लगी, पर वहाँ कैसे मिल सकती थी। हमारी भी अनमोल निधि हमारे पास है किन्तु हम उसे बाह्य पदार्थों में ढूँढ़ रहे हैं। अर्थ का अनर्थ लगा रहे हैं। यह कैसी विडम्बना है।

द्रव्यश्रुत आवश्यक है भावश्रुत के लिये। द्रव्यश्रुत ढाल की तरह है और भावश्रुत तलवार की तरह है। किन्तु ढाल और तलवार को लेकर रणांगण में उतरने वाला होश में भी होना चाहिये। द्रव्यश्रुत द्वारा वह अपनी रक्षा करता रहे और भावश्रुत में लीन रहने का प्रयास करें यही कल्याण का मार्ग है।

एक सज्जन ने मुझसे प्रश्न किया 'महाराज इस पंचम काल में तो मुक्ति होती नहीं।' आपकी क्या राय है ? कथंचित् सही है यह बात मैंने कही। 'महाराज, जो बात सही है, उसमें भी आप कथंचित् लगा रहे हैं'। - वे सज्जन बोले । हां भाई ! कथंचित् लगा रहे हैं इसलिये कि आज द्रव्य मुक्ति भले न हो, पर भाव मुक्ति तो तुरन्त हो सकती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, धन आदि इनका विमोचन करो छुटकारा पा जाओ उन पदार्थों से जिनको आप पकड़े बैठे हैं अपने परिणामों में, भावों में, बस! तुरन्त कल्याण है यही तो है भाव मुक्ति ! प्रवचन भक्ति !

❐

विमल-आवश्यक

✻ मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिए मिला है अनावश्यक कार्यों में खोने के लिये नहीं। जो पाँच इन्द्रियों और मन के वश नहीं है वह 'अवश' है और 'अवशी' के द्वारा किया गया कार्य आवश्यक कहलाता है, करने योग्य कहा जाता है।

'आवश्यकापरिहाणि'-दो शब्दों से मिलकर बना है 'आवश्यक और अपरिहाणि' अर्थात् आवश्यक कार्यों को निर्दोष रूप से सम्पन्न करना। आवश्यक कार्यों को समयोचित करने के लिये बुद्धिमत्ता आवश्यक है। एक अनपढ़ बहू एक घर में आ गई। पड़ोस में किसी के यहाँ मौत हो गयी थी। सास ने उसे वहाँ भेजा सांत्वना देने के लिए। बहू गई और सांत्वना शब्दिक देकर आ गई। रोई नहीं। सास ने कहा/समझाया कि वहाँ रोना आवश्यक था बहू। अचानक दूसरे ही दिन पड़ोस के एक अन्य घर में पुत्र का जन्म हुआ। सास ने बहू को भेजा

और वहाँ पहुँचते ही बहू ने रोना शुरू कर दिया। घर लौटी तो सास के पूछने पर उसने सब कुछ कह दिया। सास ने बहू को फिर समझाया 'क्या करती हो बहू, वहाँ तो तुझे प्रसन्न होकर गीत गाना चाहिये था, अब आगे ध्यान रखना ।' फिर एक दिन की बात है वह बहू ऐसे घर में गयी जहाँ आग लग गयी थी। वहाँ जाकर उसने गीत गाये और प्रसन्नता व्यक्त की। आप जान रहे हैं उस अनपढ़ बहू के ये काम समयोचित नहीं थे। इसीलिये आप सब हँस रहे हैं उसकी बात सुनकर। किन्तु यदि आप अपने ऊपर ध्यान दो तो पाओगे कि आज सबका जीवन भी कितना अव्यवस्थित हो रहा है। महर्षि आपके क्रिया-कलापों को देखकर हँसते हैं क्योंकि आप के सभी कार्य अस्त-व्यस्त हैं। आपको नहीं मालूम कब, कहाँ, कौन-सा कार्य करना है।

भगवान वृषभनाथ को अन्तिम कुलकर माना गया है। उनके समय से ही भरत क्षेत्र में भोगभूमि का अन्त हुआ और कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने सारे समाज को तीन भागों में विभक्त कर छः विभिन्न कार्यों में लगाया। यह आपको समझना है कि यहाँ भोगभूमि नहीं है कर्मभूमि है पुरुषार्थ आपको अनिवार्य रूप से करना है। भोग आपको मिलने वाले नहीं हैं। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि सभी खोल-खोल कर हमने रट डाले किन्तु उनमें कही गयी शिक्षाओं के अनुरूप हमारे कार्य नहीं बन पाये । वृषभनाथ भगवान ने युग के आरम्भ में लोगों को अन्न पैदा करना, अन्न खाना सिखाया और बाद में मोक्षमार्ग की साधना की भी प्ररूपणा की है। आप केवल खाना खाने तक सीमित रह गये । पारलौकिक शिक्षा को हृदयंगम किया ही नहीं।

आप विवेक और बुद्धि के अभाव में आवश्यक कार्यों को तो करते नहीं, वासना के दास बने हुये हैं। 'आवश्यक' शब्द की निष्पत्ति की चर्चा करते हुये आचार्य कुंदकुंद ने लिखा है जिसने इन्द्रियों के दासपने को अंगीकार कर लिया, वह वशी है। "जो मन और पाँच इन्द्रियों के वश में नहीं है वह अवशी है। अवशी केवल आवश्यक कार्य ही करेगा, अनावश्यक कार्य नहीं करेगा" आवश्यक कार्य कौन-सा है ? करने योग्य कार्य ही आवश्यक कार्य है और मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिये मिला है अनावश्यक कार्यों में खोने के लिए नहीं। योग साधन के लिये जीवन मिला है, भोग साधन के लिए नहीं । ध्यान रखें, त्रस पर्याय सीमित है और इसी पर्याय में आवश्यक कार्य किये जा सकते हैं। कुल दो हजार सागर का समय मिला है इसके उपरान्त पुनः निगोद में लौट कर जाना ही पड़ेगा । इन दो हजार सागर में केवल अड़तालीस भव मिलते हैं मनुष्य के ये अड़तालीस भव यूँ ही चले गये तो पछताना पड़ेगा। "अब पछिताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत"।

मणि को समुद्र में फेंक देने के उपरान्त उसे पाया नहीं जा सकता । गाड़ी छूटने के समय आप यात्री से कहें- 'केन्टीन में चलो थोड़ा विश्राम कर लो'। तब क्या वह आपकी बात मानेगा, कभी नहीं क्योंकि वह जानता है कि गाड़ी छूटने का मतलब परेशानी कई घण्टों की । ऐसा ही ये मनुष्य जीवन है।

अकबर और बीरबल का एक उदाहरण मुझे याद आता है। एक व्यक्ति आया और उसने प्रश्न किया राज दरबार में- सत्ताइस में से दस निकाल दिए जाएँ तो शेष कितने बचेंगे ? तुरन्त अंगुलियाँ उठ गयी और सभी का एक उत्तर मिला - सतरह शेष रहेंगे किन्तु बीरबल का उत्तर बड़ा अजीब था। उसने कहा सत्ताइस में से दस निकल जाने पर कुछ नहीं बचेगा । सभी भौंचक्के रह गये । यह क्या उत्तर है? कौन से स्कूल में पढ़ा है यह ? इतना भी ज्ञान नहीं । तब बीरबल ने समझाया -"सत्ताइस नक्षत्र होते हैं उनमें से दस नक्षत्र ऐसे होते हैं जिनमें वर्षा होती है यदि वे नक्षत्र निकाल दिये जायें तो वर्षा के अभाव में फसल नहीं होगी। अन्न का एक दाना भी घर में नहीं आ पायेगा । अकाल की स्थिति हो जायेगी और सभी भूखों मर जाएँगे । कुछ भी शेष नहीं रहेगा । "इसी प्रकार त्रस पर्याय में से मनुष्य भव निकाल दो फिर कल्याण करने का अवसर कहीं नहीं मिलेगा।

भोग भूमि में भोग भोगने होंगे । उसके बिना निस्तार नहीं है। उत्तम भोगभूमि में तीन पल्य तक रहना होगा, मध्यम भोगभूमि में दो पल्य और जघन्य भोग भूमि में एक पल्य की उम्र बिताना होगी । उत्तम भोगभूमि में आठ भुक्ति के उपरान्त एक भुक्ति अनिवार्य है। मध्यम और जघन्य भोगभूमि में छः और चार के उपरान्त एक भुक्ति करना ही होगी । इसे कोई टाल नहीं सकता। भोग भोगना पड़ेंगे किन्तु कर्मभूमि में भोगों के पीछे दौड़ना ही व्यर्थ है। यहाँ तो पुरुषार्थ द्वारा, संयम द्वारा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पाया जा सकता है । यहाँ खाना खाओ तो जागृति के लिए, योग साधना के लिये, सोने के लिए नहीं। यह शरीर योग साधना के लिए माध्यम है । इसके माध्यम से ही अलौकिक आनन्द में प्रवेश किया जा सकता है । सभी तीर्थंकरों ने यही किया। उन्होंने मात्र सिखाया ही नहीं, करके भी दिखाया । हमें अवसर का भान करना चाहिए वरना पछताना पड़ेगा, वैसे कई बार पछताये भी हैं परन्तु स्मरण नहीं। श्वान की टेड़ी पूँछ के समान जो कि कभी सीधी नहीं हो पायी । हमारी भी यही मनोदशा है। उठो, जाग्रत हो, अनादि के कुसंस्कारों को तिरस्कृत करके निगोद की यात्रा से बचो जहाँ -

एक श्वास में अठ दस बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुःखभार। (छहढाला)

समय के साथ चलकर यह आवश्यक कार्य निर्दोष करना चाहिये।

❐

धर्म प्रभावना

❊ वह मार्ग जिसके द्वारा आदमी शुद्ध बुद्ध बने उस सत्य मार्ग मोक्षमार्ग की प्रभावना ही "मार्ग प्रभावना" या "धर्म प्रभावना" है।

"मृग्यते येन यत्र वा सः मार्गः" अर्थात् जिसके द्वारा खोज की जाये उसे मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग द्वारा अनादि से भूली वस्तु का परिज्ञान हो जाये, जिस मार्ग से उस आत्म तत्व की प्राप्ति हो जाय उस मार्ग की यहाँ चर्चा है। मोक्ष मार्ग, सत्य मार्ग, अहिंसा मार्ग यानी वह मार्ग जिसके द्वारा यह आत्मा शुद्ध बुद्ध बने, उस मार्ग की प्रभावना ही "मार्ग प्रभावना" कहलाती है।

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण को पढ़ते समय हमें रावण द्वारा निर्मित शान्तिनाथ मन्दिर के प्रसंग देखने का अवसर मिला। दीवारें सोने की, दरवाजे बज्र के, फर्श सोने-चाँदी के, छत नीलम मणि की। ओह ! इतना सुन्दर मन्दिर बनवाया रावण ने और स्वयं उसमें ध्यानमग्न होकर बैठ गया। सोलह दिन तक विद्या की सिद्धि के लिये बैठा रहा ध्यानमग्न । ऐसा ध्यान जिसमें मन्दोदरी की चीख पुकार को भी नहीं सुना रावण ने। किन्तु यह ध्यान, धर्म ध्यान नहीं था। बगुले के समान ध्यान था केवल अपना स्वार्थ साधने के लिये। आप समझते होंगे रावण ने धर्म की प्रभावना की, नहीं, उसने मिथ्यात्व का पोषण करके धर्म की अप्रभावना की।

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है -

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना ।।

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार/१८)

व्याप्त अज्ञान अन्धकार को यथाशक्ति दूर करना और जिन शासन की गरिमा को प्रकाशित करना ही वास्तविक प्रभावना है। जो स्वयं अज्ञान में डूबा हो उससे प्रभावना क्या होगी? रावण अन्याय के मार्ग पर चला। नीति विशारद होकर भी वह अनीति को अपनाने वाला बना। उसके ललाट पर एक कलंक का टीका लगा हुआ है। ऐसा कोई व्यक्ति क्यों न हो, उसके द्वारा प्रभावना नहीं हो सकती। प्रभावना देखनी हो तो देखो उस जटायु पक्षी को। जिस संकल्प को उसने ग्रहण किया, उसका पालन शल्य रहित होकर जीवन के अंतिम क्षणों तक किया। सीता जी की त्राहि माम्-त्राहि माम् आवाज सुनकर वह चल पड़ा उस अबला की सहायता के लिये। वह जानता था कि उसकी रावण से लड़ाई हाथी और मक्खी की लड़ाई के समान है। रावण का एक घातक प्रहार ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देने के लिये पर्याप्त

है किन्तु अनीति के प्रति वह लड़ने पहुँच गया और अपने व्रत का निर्दोष पालन करते हुये प्राण त्याग दिये। यही सच्ची प्रभावना है। रावण को उससे शिक्षा लेनी चाहिये थी और हमें भी सीख मिलनी चाहिये।

आज कितना अन्तर है हममें और उस जटायु पक्षी में। हम एक-एक पैसे के लिये अपना जीवन और ईमान बेचने को तैयार हैं। अपने द्वारा लिये गये व्रतों के प्रति कहाँ है हममें समर्पण, और कहाँ है वैसी रुचि जैसी जटायु पक्षी में थी। हम व्रत लेते हैं तो छूट जाते हैं या छोड़ देते हैं। कई लोग कहते हैं "महाराज ! रात्रि भोजन का हमारा त्याग। किन्तु इतनी छूट रख दो जिस दिन रात्रि में भोजन का प्रसंग आ जाये उस दिन भोजन रात में कर लें।" यह कोई व्रत है। यह तो छलावा है। ऐसे लोगों से तो हम यही कह देते हैं कि प्रसंग आने पर दिन का व्रत ले लो और बाकी समयों की चिन्ता मत करो। निर्दोष व्रत का पालन ही मार्ग प्रभावना में कारण है।

जटायु पक्षी किसी मन्दिर में नहीं गया किन्तु उसका मन्दिर उसके हृदय में था। जिसमें श्री जी के रूप में उसकी स्वयं की आत्मा थी। हमें भी उसी आत्मा की विषय-कषायों से रक्षा करनी चाहिये। इसे ही मार्ग प्रभावना कहा जायेगा।

हमने एक बार आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज से पूछा था - महाराज, मुझ से धर्म की प्रभावना कैसे बन सकेगी ? तब उनका उत्तर था "आर्षमार्ग में दोष लगा देना अप्रभावना कहलाती है तुम ऐसी अप्रभावना से बचते रहना बस ! प्रभावना हो जायेगी।" मुनि मार्ग सफेद चादर के समान है उसमें जरा-सा भी दाग लगना अप्रभावना का कारण है। उनकी यह सीख बड़ी पैनी है। इसलिये प्रयास मेरा यही रहा कि दुनिया कुछ भी कहे या न कहे, मुझे अपने ग्रहण किये हुये व्रतों का परिपालन निर्दोष करना है।

भगवान महावीर के उपदेशों के अनुरूप अपना जीवन बनाओ। यही सबसे बड़ी प्रभावना है। मात्र नारेबाजी से प्रभावना होना संभव नहीं है। रावण को राक्षस कहा है वह वास्तव में राक्षस नहीं था किन्तु आर्य होकर भी उसने अनार्य जैसे कार्य किये। अन्त तक मिथ्यामार्ग का सहारा लिया। कुमार्ग को ही सच्चा मार्ग मानता रहा। 'मेरा सो खरा और खरा सो मेरा' - इस वाक्य में मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी का पूर्ण विवेचन निहित है। वाक्य के प्रथम अंश के अनुरूप जिनका जीवन है वे कुमार्गी हैं और वाक्य के दूसरे हिस्से के अनुयायी सन्मार्गी हैं। हमारे अन्दर यह विवेक हमेशा जागृत रहना चाहिये कि मेरे द्वारा ऐसे कोई कार्य तो नहीं हो रहे जिनसे दूसरों को आघात पहुँचे। यही प्रभावना का प्रतीक है।

कल हमें 'तीर्थंकर' पत्रिका में एक समाचार देखने को मिला। लिखा था "धर्मचक्र चल रहे हैं बड़ी प्रभावना हो रही है।" सोचो, क्या इतने से ही प्रभावना हो जायेगी। मात्र

प्रतीक पर हमारी दृष्टि है। सजीव धर्मचक्र कोई नहीं चल रहा उसके साथ। सजीव धर्मचक्र की गरिमा की ओर हमारा ध्यान कभी गया ही नहीं। सजीव धर्मचक्र है वह आत्मा जो विषय और कषायों से ऊपर उठ गयी है। मात्र जड़ धन पैसे से धर्म प्रभावना होने वाली नहीं। जनेऊ, तिलक और मात्र चोटी धारण करने से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना तो वस्तुतः अंतरंग की बात है। परमार्थ की प्रभावना ही प्रभावना है। परमार्थ के लिये कोई धन का विमोचन करे, वह प्रभावना है।

आचार्य कुन्दकुन्द का नाम बड़ा विख्यात है हम सभी कहते हैं "मंगलं कुन्दकुन्दार्यो अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य मंगलमय हैं। किन्तु हम उनकी भी बात नहीं मानते। शास्त्रों की वे ही बातें हम स्वीकार कर लेते हैं जिनसे हमारा लौकिक स्वार्थ सिद्ध हो जाता है। परमार्थ की बात हमारे गले उतरती ही नहीं है। उनके ग्रन्थ-समयसार प्राभृत में एक गाथा आयी है जिसका सार इस प्रकार है-"विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मन के वेग को रोकते हुये जो व्यक्ति चलता है, वह बिना कुछ कहे हुये जिनेन्द्र भगवान की प्रभावना कर रहा है।"

विषय कषायों पर कंट्रोल करो। वीतरागता की ही प्रभावना है, रागद्वेष की प्रभावना नहीं है। भगवान ने कभी नहीं कहा कि मेरी प्रभावना करो। उनकी प्रभावना तो स्वयं हो गयी है। लोकमत के पीछे मत दौड़ो, नहीं तो भेड़ों की तरह जीवन का अन्त हो जायेगा। मालूम है उदाहरण भेड़ों का। एक के बाद एक सैंकड़ों भेड़ें चली जा रहीं थीं, एक गड्ढे में एक गिरी तो पीछे चलने वाली दूसरी गिरी, तीसरी भी गिरी और इस तरह सबका जीवन गिरकर समाप्त हो गया। उनके साथ एक बकरी भी थी किन्तु वह नहीं गिरी क्योंकि वह भेड़ों की सजातीय नहीं थी। इसी तरह झूठ हजारों हैं जो एक न एक दिन गिरेंगे किन्तु सत्य केवल एक है अकेला है। उस सत्य की प्रभावना के लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ। और सत्य की प्रभावना तभी होगी जब तुम स्वयं अपने जीवन को सत्यमय बनाओगे, चाहे तुम अकेले ही क्यों न रह जाओ, सत्य का चुनाव जनता अपने आप कर लेगी।

❐

वात्सल्य

※ दूध पानी को मिला सकता है विजातीय होने पर भी; पर हम तो सजातीय को भी नहीं मिला पाते। सोचो; समय रहते एक डोरी में बंध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनंद आता है।

प्रवचन वात्सल्य का अर्थ है साधर्मियों के प्रति करुणाभाव। "वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्" - जैसे गाय बछड़े पर स्नेह करती है इसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह

रखना प्रवचन वत्सलत्व है। वात्सल्य एक स्वाभाविक भाव है। साधर्मी को देखकर उल्लास की बाढ़ आना ही चाहिए। प्रवचन वात्सल्य का उतना ही अधिक महत्व है जितना प्रथम दर्शनविशुद्धि भावना का। साधर्मी में वात्सल्य रखने वाला अवश्य ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध करेगा। आचार्यों ने कहा है कि साथ वालों के प्रति औचित्यपूर्ण व्यवहार ही होना चाहिए। किन्तु आज देखने में आता है कि सजातीय भाइयों में प्रेम ओझल-सा हो गया है। हम अपने से ऊँचे को और नीचे वाले को स्थान दे सकते हैं किन्तु समान लोगों को सहन नहीं कर सकते। रूस और अमेरिका में आज संघर्ष क्यों है ? केवल इसलिये कि वे समान जाति के हैं। आज विश्व में विप्लव का प्रमुख कारण जातियों की पारस्परिक लड़ाई ही है। हम हाथी के साथ-साथ चल सकते हैं, साथी के साथ नहीं।

एक बार दुर्योधन को गन्धर्वों ने बन्दी बना लिया। धृतराष्ट्र ने निवेदन किया धर्मराज से। धर्मराज ने कह दिया भीम से। "भइया ! जाओ दुर्योधन को छुड़ा लाओ। दुर्योधन का नाम सुनकर भीमराज क्रोध से भर उठे। बोले - "उस पापी की मुक्ति की बात करते हो, जिसके कारण हमें वनवास की यातनायें सहनी पड़ी। उस अन्यायी, नारकी को छुड़ाने की बात करते हो, जिसने भरी सभा में द्रोपदी को निर्वसन करने का दुस्साहस किया था। धर्मराज, अगर आप किसी और की मुक्ति की बात करते, तो अनुचित न होता किन्तु दुर्योधन को मुक्त कराने मैं नहीं जाऊँगा।" धर्मराज के हृदय का करुणा भाव आँखों से बहते देखकर, अर्जुन ने उनके वात्सल्य भाव को समझा और गाण्डीव धनुष द्वारा गन्धर्वों से युद्ध किया तथा दुर्योधन को छुड़ा लाये।

यह है वात्सल्य की भावना। तब धर्मराज ने समझाया - "हम परस्पर सौ कौरव और पाँच पाण्डव हैं, लड़ भिड़ सकते हैं किन्तु बाहर वालों के लिए हम सदा एक सौ पाँच भाई ही हैं। " हमारे भीतर एकता की ऐसी भावना होनी चाहिए।

भगवान महावीर की पूजा करने वालों में मत भेद हो जाये, विचारों में भिन्नता आ जाये किन्तु मन भेद नहीं होना चाहिए। पानी की धारा जब प्रवाहित होती है तो निर्बाध ही चली जाती है किन्तु किसी घनीभूत पत्थर के मार्ग में आ जाने पर वह धारा दो भागों में विभक्त हो ही जायेगी। वात्सल्य-विहीन व्यक्ति भी पत्थर की तरह होते हैं। वे समाज को दो धाराओं में विभक्त कर देते हैं।

जाति-विरोध वास्तव में बहुत बुरी चीज है। हम महावीर भगवान को तो मानें, उनकी पूजा करें, भक्ति करें और अपने साधर्मी भाइयों से वैमनस्य रखें, तो समझो हमारी पूजा व्यर्थ है। समवशरण में भी हमारी यही दृष्टि रही, स्वर्गों में भी यही रही। साधर्मी के वैभव को हम देख नहीं पाते, ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। विधर्मी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न

हो हमें कोई चिन्ता नहीं होती किन्तु सजातीय बन्धु की जरा सी उन्नति भी हमारी ईर्ष्या का कारण बन जाती है उसे हम सहन नहीं कर पाते। यहीं से दुःखों की जड़ प्रारम्भ होती है। ये वैमनस्य ही कारण है हमारी व्यथाओं का।

भाई,समझो तो सही, विचार भेद तो केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व छद्मस्थ अवस्था में रहेगा ही किन्तु मन भेद तो नहीं रखना चाहिये। केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त विचारों की भिन्नता भी समाप्त हो जाती है। सभी जीवों को एकसूत्र में बाँधने के लिये जैनधर्म में संग्रह नय का उल्लेख किया है। सभी जीव शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध हैं। हमें भी ऐसे ही एक सूत्र में बँधना चाहिये तभी श्रेयस्कर है।

ध्यान रखो, यदि हमारे अन्दर वैमनस्य की रेखा है तो वह उभरकर ऊपर में अकरुणा की लहरें पैदा करेंगी। जैसे किसी तालाब में एक पत्थर फेंका जाये तो तरंगें एक तट से दूसरे तट तक फैल जाती हैं उसी प्रकार वह वैमनस्य भी फैलता ही जाता है। धर्मराज के वात्सल्य को देखकर, सुनकर भीम बड़े लज्जित होकर नतमस्तक हो गये थे। हमें भी इससे शिक्षा लेना चाहिये।

आज हम वात्सल्यहीन होते जा रहे हैं। जो हमारी उन्नति में बाधक बन रहा है। साधर्मियों से हमारी लड़ाई और विधर्मियों से प्रेम हमारे पतन का कारण है। आज मनुष्य की चाल और श्वान की चाल एक जैसी हो गई है। एक लड़के ने एक कुत्ता पाल लिया। वह बालक उस कुत्ते से बड़ा प्यार करता क्योंकि कुत्ता आप जानते ही हैं, बहुत स्वामिभक्त होता है। वह बालक एक दिन माँ से बोला-"माँ दुनियाँ में शेरसिंह, हाथीसिंह, अश्वसेन आदि नाम प्रचलित हैं, किन्तु श्वानसेन किसी का नाम नहीं। ऐसा क्यों ?" तब माँ बोली-बेटा ! तू अभी जानता नहीं। अगर अभी सामने से कोई दूसरा कुत्ता आ जाये तो देखना तुम्हारा ये कुत्ता तुम्हारी गोद से उतरकर उससे लड़ने पहुँच जायेगा, यह जाति द्रोही है यही इसका सबसे बड़ा अवगुण है। इसलिये कोई माता-पिता अपने बेटे का नाम श्वानसिंह नहीं रखते। इसी तरह हमारी भी चाल है। हम भी सजातीय को देखकर क्रोध करते हैं। याद रखो, हमारी रक्षा साधर्मी के द्वारा ही होगी विधर्मी कभी हमारी रक्षा के लिये नहीं आयेगा।

एक बार 'आक' का दूध गाय और भैंस के दूध से बोला - "भइया मुझे भी अपने साथ मिला लो। मेरा भी निस्तार हो जायेगा।" "न भइया ! मैं तुम्हें थोड़ा भी अपने में मिला लू. तो मेरा स्वभाव भी बदल जायेगा मैं फट जाऊँगा और कोई मुझे भी नहीं पियेगा। तब कैसे मैं पालन कर पाऊँगा भूखे प्राणियों का" - गौ का दुग्ध बोला। तब आक का दूध कहता है, भइया, पानी को मिला लेते हो, जो कि विजातीय है।" पानी विजातीय होकर भी अलग स्वभाव का है मिलन सारी है पानी का तो यह हाल है-जैसा मिले संग, वैसा उसका रंग।"

विजातीय होकर भी पानी अपने इसी स्वभाव के कारण सभी के साथ मिल सकता है किन्तु हम सजातीय होकर भी ऐसा वात्सल्य का स्वभाव जागृत नहीं कर पाते। भाई, एक डोरी में बंध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनन्द आयेगा।

भगवान महावीर ने इस वात्सल्य भाव को अपने जीवन में उतारा था। प्रकाश का स्वभाव भी देखो, बीसों बल्बों का प्रकाश भी एक साथ मिल जाता है। प्रकाश में कभी लड़ाई नहीं होती, हमारी छाया भले ही प्रकाश में भेद उत्पन्न कर दे। जैसे प्रकाश में प्रकाश मिल जाता है वैसे ही हमारी आँखों से निकली हुई चैतन्य धारा भी दूसरों की ओर से आने वाली चेतन धारा से मिल जानी चाहिए। जड़ के सम्पर्क में रहकर हम भी जड़ होते चले जा रहे हैं। जड़ का अर्थ अचेतन भी है और मूर्ख भी है। यह मूर्ख संज्ञा मनुष्यों की ही है। दुनियाँ के पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ते किन्तु हम मनुष्य अपना स्वभाव भूल कर उसे छोड़ बैठे हैं। इसीलिए दुःखी भी हैं।

सन्त लोग एक-एक पंक्ति में सुख का मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। उनकी एक-एक बात सारभूत है। किन्तु हम उसे छोड़कर निस्सार की ओर दौड़ रहे हैं। हमने उनकी पुकार सुनी ही नहीं। गुरुओं के हृदय में तो करुणा की धारा प्रवाहित होती रहती है उससे हमें लाभ लेना चाहिये और जाति-द्रोह, वैमनस्य, श्वान चाल छोड़कर मैत्री और वात्सल्य भाव को अपनाना चाहिये।

❑ ❑ ❑

महावीर भगवान की जय ....

श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति बरेला, जबलपुर से प्रकाशित साहित्य

क्र.सं.	साहित्य	पृष्ठ	मूल्य
1.	जिन-भारती संग्रह (जिनवाणी-संग्रह)	592	35.00
2.	नित्य-पूजा	144	12.00
3.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	160	20.00
4.	पञ्च-अमृत	136	12.00
5.	स्वयम्भू-स्तोत्र	128	8.00
6.	जिन-पूजा (पॉकेट साईज)	184	10.00
7.	छहढ़ाला प्रश्नोत्तर प्रदीप	176	15.00
8.	समवशरण विधान	208	20.00
9.	श्रावक प्रतिक्रमण	72	6.00
10.	द्रव्य संग्रह प्रश्नोत्तर प्रदीप	80	7.00
11.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार (अन्वयार्थ-भावार्थ)	96	7.00
12.	जिन-स्तोत्र निकुञ्ज	192	20.00
13.	शील-मञ्जूषा	208	20.00
14.	समयसार (पॉकेट साईज)	464	15.00
15.	सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर प्रदीप भाग-1, 2	48	2.50
16.	सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर प्रदीप भाग-3	48	2.50
17.	सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर प्रदीप भाग-4	128	8.00
18.	धर्मध्यान	304	30.00
19.	समाज निर्माण में महिलाओं का योगदान	144	20.00
20.	आराधना (पॉकेट साईज)	80	5.00
21.	तत्त्वार्थ सूत्र सार्थ (पॉकेट साईज)	96	5.00
22.	भक्ति पाठ (पॉकेट साईज)	64	4.00
23.	परमात्म-गीतिका	56	10.00
24.	स्तुति-निकुञ्ज	108	12.00
25.	गुरु गरिमा शतक	72	5.00
26.	भक्तामर विधान	128	12.00
27.	विद्या-भारती 1, 2, 3, 4 (प्रत्येक)	88	12.00
28.	रयण-मञ्जूषा (पॉकेट साईज)	176	7.00